सहअस्तित्ववाद एक परिचय

(प्राथमिक वस्तु परिचय क्र. १)

संकलन स्रोत -मध्यस्थ दर्शन प्रकाशित वाङ्मय

प्रणेता एवं लेखक - श्री ए.नागराज, अमरकंटक, म.प्र.

सम्पूर्ण प्रामाणिक वाङ्मय डाउनलोड - www.madhyasth.org

ईमेल: info@divya-path.org

प्रकाशक :

XXX

प्रणेता एवं लेखक :

ए. नागराज

सर्वाधिकार दिव्यपथ संस्थान के पास सुरक्षित

सहयोग राशि : XXX

संस्करण :

मुद्रण :

प्रामाणिक वेबसाइट : www.madhyasth.org **मुद्रक :** XXX

प्रिंटेड पुस्तक प्राप्ति : books@divya-path.org

All Websites : www.jvidya.com

सदुपयोग नीति :

यह प्रकाशन 'सर्वशुभ' के अर्थ में है और इसका कोई व्यापारिक उद्देश्य नहीं है। इसका उपयोग एवं नकल, निजी अध्ययन के लिए उपलब्ध है। इसके अलावा किसी भी अर्थ में प्रयोग (नकल, मुद्रण, आदि) करने के लिए 'दिव्यपथ संस्थान', अमरकंटक, जिला अनुपपुर (म.प्र.) भारत - 484886 से पूर्व में लिखित अनुमति लेना अनिवार्य है। यह अपेक्षित है की इन अवधारणाओं को दूसरी जगह प्रयोग करते समय इस ग्रंथ का पूर्ण उद्धरण (संदर्भ) दिया जाएगा। कृपया दर्शन की पवित्रता बनाये रखें।

टिपण्णी

इस संकलन में प्रयुक्त सभी परिच्छेद खंड श्री ए. नागराजजी (1920- 2016) द्वारा लिखित मध्यस्थ दर्शन वाङ्मय से लिया गया है एवं इन्हें परिचयात्मक क्रमबद्ध विधि से सजाया गया है।

इस संकलन का आशय मध्यस्थ ,सहअस्तित्ववाद का "प्राथमिक परिचय" है, ताकि पाठक दर्शन के शब्दावली से सुपरिचित हो, मूल प्रस्तावना से अवगत हों तथा आगे अध्ययन के लिए प्रेरित हों। अतः यह संकलन मध्यस्थ दर्शन सहज '**प्रवेश**' के अर्थ में है।

प्रत्येक परिच्छेद खंड के आरंभ में पुस्तक के नाम का चिन्ह एवं साथ में पृष्ठ क्रमांक दिया गया है। जैसे- "व्य. द. (184-186)। सम्बंधित वाक्यों के सन्दर्भ जानकारी के लिए इंगित पुस्तक को देखें।

पढ़ने के निरंतरता के ध्यान में रखते, न्यूनतम रूप में कुछ ही वाक्यों को संकलन कर्ता द्वारा जोड़ा गया है, जो () कोशक में इंगित है।

अपने अध्ययन के लिए मूल वांगमय - चार दर्शन, तीन वाद, तीन शास्त्र, संविधान को ही रखें। पुस्तकों के प्रयुक्त संस्करण तथा चिन्ह की सूचना निम्नानुसार है :-

पुस्तक का नाम	**संक्रमण**	**प्रयुक्त चिन्ह**
मानव व्यवहार दर्शन	2010	व्य. द.
मानव कर्म दर्शन	2010	क. द.
मानव अभ्यास दर्शन	2010	अ. द.
समधानात्मक भौतिकवाद	2009	भ. व.
व्यवहारात्मक जनवाद	2009	ज. व.
अनुभवात्मक अध्यात्मवाद	2009	अ. व.
व्यवहारवादी समाजशास्त्र	2009	स. श.
आवर्तनशील अर्थशास्त्र	2009	अ. श.
मानव संचेतनवादी मनोविज्ञान	2009	म्. वि.

पुस्तक संकलन जिम्मेदारी – श्रीराम नरसिंहन (विद्यार्थी), अमरकंटक, नवम्बर २०१५

पेज सेटिंग सहयोग - गुंजन पनारा, २०२२

अनुक्रमाणिका – संक्षिप्त

खंड 1:	**पृष्ठभूमि**				**पृष्ठ क्र**
	अध्याय 1	अनुसंधान			8
	आध्याय 2	समाधान की आवश्यकता			11
	अध्याय 3	प्रस्तावना			17
खंड 2:	**अस्तित्व सहअस्तित्व है**				
	अध्याय 1	**अस्तित्व में व्यवस्था (सहअस्तित्व)**			26
		1.1	अस्तित्व = सहअस्तित्व		
		1.2	अस्तित्व में चार अवस्था		
	अध्याय 2	**मानव (स्वयं) में व्यवस्था**			43
		2.1	मानव परिभाषा		
		2.2	चैतन्य जीवन स्वरूप, क्रिया		
		2.3	जीवन में भ्रम, जागृति		
	अध्याय 3	**मानव मानव संबंध में व्यवस्था**			62
		3.1	**संबंध एवं आचरण – आधार**		
			3.1.1	संबंध - परिचय	
			3.1.2	मानवीय स्वभाव, व्यवहार के नियम	
		3.2	**परिवार में व्यवस्था**		
			3.2.1	व्यवहार में सात संबंध	
			3.2.2	व्यवहार मूल्य – संबंध मूल्य	
			3.2.3	परिवार में जीना, समृद्धि	
		3.3	**समाज में व्यवस्था**		
			3.3.1	समुदाय समाज नही है	
			3.3.2	अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था	
			3.3.3	परंपरा जागृत होने की अवश्यकता	
	अध्याय 4.	**नैसर्गिक संबंध (प्रकृति में व्यवस्था)**			87
		4.1	संदर्भ		
		4.2	उत्पादन एवं समृद्धि		
		4.3	प्राकृतिक संतुलन		
खंड 3:	**सारांश**				
	अध्याय 1.	सारांश			97
	अध्याय 2.	आगे अध्ययन हेतु संकेत			106

अनुक्रमाणिका – विस्तृत

खण्ड -१: पृष्ठभूमि 8

अध्याय १ – अनुसन्धान 9

अनुसंधान क्यूँ ,कैसे? 9

अध्याय २ - समाधान की आवश्यकता 12

समाधान और द्वन्द्व 12

प्राकृतिक असंतुलन 15

“सहस्तित्ववादी विधि से समाधान संभव है” 16

अध्याय ३ - प्रस्तावना 18

“सार्वभौम न्याय ,धर्म, सत्य का प्रस्ताव” 18

“मानव सुख धर्मी है” 19

अस्तित्व निरंतर सामरस्य है, संगीतमय है, समाधान है। यही परम सत्य है। 22

समझने की वस्तु तथा विधि 24

समझने की वस्तु 24

समझने की विधि: 24

सहज स्वीकार, स्वीकृति 25

खण्ड 2: अस्तित्व सहअस्तित्व है 26

अध्याय 1 - अस्तित्व में व्यवस्था (सहअस्तित्व) 27

प्रकृति में निहित पूरकता एवं संतुलन 27

1.1 अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व है 28

1.2 अस्तित्व में चार अवस्था 31

अस्तित्व एवं अस्तित्व में परमाणु का विकास 31

अध्याय 2 - मानव स्वयं में व्यवस्था 44

2.1 मानव परिभाषा 44

हर मानव व्यवस्था चाहता है समझना चाहता है सुख चाहता है 44

2.2 जीवन स्वरूप, क्रिया 49

मानव जीवन और शरीर का संयुक्त रुप है। 49

जीवन क्रियाकलाप,क्रिया 50

जीवन क्रिया 52

जीवन के दस क्रियाएँ - परिचय 53

जीवन- मेधस- शरीर 56
2.3 जीवन में भ्रम, जागृति 57
भ्रम- भय, प्रलोभन, आस्था – जीव चेतना 57
न्याय, धर्म, सत्य दृष्टि की क्रियाशीलता 58
जागृति की अनिवर्तया 61
अध्याय 3 : मानव-मानव संबंध में व्यवस्था 63
3.1 संबंध एवं आचरण – आधार 63
3.1.1 संबंध परिचय – दायित्व, कर्तव्य और व्यवहार 63
3.1.2 मानवीय स्वभाव, व्यवहार के नियम 67
3.2 परिवार में व्यवस्था 69
3.2.1 व्यवहार में 7 प्रकार के संबंध :- दायित्व- कर्तव्य 69
3.2.2 व्यवहार मूल्य 72
व्यवहार सहज 18 मूल्य 72
3.2.3 परिवार व्यवस्था में जीना, समृद्धि 75
3.3 समाज में व्यवस्था 77
3.3.1 समुदाय समाज नहीं है 77
शिक्षा संस्कार 80
3.3.2 परंपरा जागृत होने की आवश्यकता 86
अध्याय 4 - नैसर्गिक संबंध (प्रकृति में व्यवस्था) 88
4.1 संदर्भ 88
4.2 उत्पादन एवं समृद्धि 89
परिचय 89
आवश्यकता निश्चित है, साधन पर्याप्त है 89
समृद्धि का आधार “वस्तु” है, न कि “पत्र मुद्रा” 91
परिवार में श्रम नियोजन, परिवार में समृद्धि 92
सारांश 92
4.3 प्राकृतिक संतुलन 92
प्रकृति में संगीत है, संतुलन है, भ्रमित मानव ही समस्या पैदा करता है 93
खण्ड 3: सारांश 97
अध्याय 1 - सारांश 98
अस्तित्व कैसा है? कितना है? क्या है? 98
मानव ही जीवन मूलक व्यवस्था है 98

समाधान = सुख। समाधानित होना ही लक्ष्य है 100
मानव जागृति ही स्वीकारता है, भ्रम को नही 101
कुछ प्रचलित मान्यताएँ, भ्रम 101
सार्वभौमता का पहचान 104
अध्याय 2 - आगे अध्ययन हेतु संकेत 107
अध्ययन क्यों**?** 107
अध्ययन क्या है ? 107
अध्ययन हेतु सहयोग, शिविर 109

खण्ड -१: पृष्ठभूमि

अध्याय १ – अनुसन्धान

अनुसंधान क्यूँ ,कैसे?

मेरे बंधुओं,

सबको नमन, प्रणाम, आशीर्वाद अर्पित करते हुए मैं आपसे अनुरोध करना चाह रहा हूं यह अनुसंधान क्यों और कैसे हुआ? उसके पहले मुझे यह भी बताने को कहा गया है यथास्थिति से मुझे क्या परेशानी थी? मैं मानता हूं यहां पर जितने भी बंधुजन उपस्थित हैं वे ध्यान से सुनेंगे और फिर अपने विचार व्यक्त करेंगे।

यथास्थिति यह है "इस धरती पर हम जो आदमी जाती है, वे ज्ञानी, विज्ञानी अथवा अज्ञानी में गण्य है।" यह मेरा कथन आप लोगों को कितना अनुकूल है या प्रतिकूल है यह आप आगे बताएँगे।

हम ज्ञानी, विज्ञानी और अज्ञानी मिलकर इस धरती पर जो कुछ भी किए उसके फलन से पहले वन संपदा समाप्त हो गई, दूसरे खनिज संपदा समाप्त हो गई। इन दोनों के समाप्त होने से यह धरती रहने योग्य नहीं बचेगी, ऐसा विज्ञानी लोग कह रहे हैं। यह सब बात हम सब लोग सुनते ही हैं। इस पर आगे सोचने पर स्वयंस्फूर्त रूप में यह बात आती है हम जो कुछ भी किए उससे यह धरती रहने योग्य नहीं बची अब यह रहने योग्य बने उसके लिए भी कुछ सोचें!

धरती पर मानव रहने योग्य कैसे बने उसके लिए मैं अनुसंधान किया हूं। मेरे अनुसंधान का उद्देश्य इतना ही है।

इस अनुसंधान पूर्वक मैंने जो पाया, उसको प्रस्तुत करने की कोशिश किया है। यह स्पष्ट हुआ या नहीं हुआ, यह आप ही लोग शोध करके बताएँगे। हर व्यक्ति को शोध करने के अधिकार है, समझने का अधिकार है, उस पर अपने आचरण सहित विचार को व्यक्त करने का अधिकार है। आज पैदा हुआ बच्चे में भी यह अधिकार है कल मरने वाला वृद्ध में भी यह अधिकार है। प्रकारान्तर से चलते हुए वर्तमान में हम मानव जाति अपराध कृत्य में फंस गए हैं। इससे पहले हमारे बुजुर्गों ने लिख कर दिया है "भक्ति विरक्ति में कल्याण है।" भौतिकवाद जब आया तो पहले से ही प्रलोभन से ग्रसित मानव जात "सुविधा संग्रह" में फंस गया।

सुविधा संग्रह के चलते इस धरती से वन और खनिज दोनों समाप्त होते गए। वन और खनिज समाप्त होने से ऋतु संतुलन प्रतिकूल होता गया और धीरे-धीरे धरती बीमार हो गई।

विज्ञानी यह बता रहे हैं धरती का तापमान कुछ और बढ़ जाने से इस धरती पर आदमी रहेगा नहीं। सन 1950 से पहले यही विज्ञानी बताते रहे कि यह धरती ठंडा हो रहा है। सन् 1950 के बाद बताना शुरू किए यह धरती गरम हो रहा है। यह कैसे हो गया? इसका शोध करने पर पता चला कि इस धरती पर सब देश मिलकर 2000 से 3000 बार परमाणु परीक्षण किए हैं। ये परीक्षण इस धरती पर ही हुए हैं। इन परीक्षणों से जो ऊष्मा जनित होते है उसको नापा जाता है। यह जो ऊष्मा जनित हुआ, वह धरती में ही समाया या कहीं उड़ गया? यह पूछने पर पता चला यह धरती में ही समाया है, जिससे धरती का तापमान बढ़ गया। धरती को बुखार हो गया है।

अब और कितना ताप बढ़ेगा उसकी प्रतीक्षा करने में विज्ञानी लगे हैं। इसके साथ एक और विपदा हुआ प्रदूषण का छा जाना।

इंधन अवशेष से प्रदूषण हुआ। इन दोनों विपदाओं से धरती पर मानव रहेगा या नहीं इस पर प्रश्नचिन्ह लग गया। धरती को मानव ने अपने न रहने योग्य बना दिया। मानव को धरती पर रहने योग्य बनाने के लिए अनुसंधान प्रस्ताव रूप में है। "न्याय पूर्वक जीने" की प्रवृति मानव में कैसे स्थापित हो इसको मैंने अनुसंधान किया है। न्यायपूर्वक जीने में मैं स्वयं प्रवृत्त हूँ।

न्याय किसके साथ होना है? मानव के साथ होना है और मानवेतर प्रकृति के साथ होना है। इसके बाद में हम थोड़ा यहाँ बातचीत करेंगे।

मैं स्वयं एक वेद मूर्ति परिवार से हूँ। मेरे शरीर का आयु इस समय 90 वर्ष है। इन 90 वर्ष में से पहले 30 वर्ष मैंने अपने घर परिवार की परंपरा के अनुसार ही काम किया। 30 वर्ष के बाद के 60 वर्ष मैंने इस अनुसंधान को करने और उससे प्राप्त फल को मानव जाति को अर्पित करने में लगाया हूँ। यह अनुसंधान कैसे किया? यह बात आती है। हमारे शस्त्रों में लिखा है अज्ञात को ज्ञात करने के लिए समाधि एक मात्र स्थान है। उस पर विश्वास करते हुए, अमरकंटक को अनुकूल स्थान मानते हुए, मैं 1950 में अमरकंटक पहुंचा।

अमरकंटक में मैंने साधना किया और साधना को देखा। समाधि को देखने पर पता चला, समाधि में कोई ज्ञान नहीं होता। समाधि में मैंने अपनी आशा, विचार, और इच्छा को चुप होते हुए देखा।

एक दो वर्ष तक मैंने समाधि की स्थिति को देखा पर समाधि में ज्ञान नहीं हुआ। उसके बाद समाधि का मूल्यांकन करने के क्रम में मैंने संयम किया, जिससे प्रकृति की हर वस्तु मेरे अध्ययन में आयी। अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व रूप में है यह बात मुझको बोध हुआ, ज्ञान हुआ, उसको जी करके प्रमाणित करने की अहर्ता आयी। ऐसे ज्ञान को जी कर के प्रमाणित करने में परस्परता में विश्वास होता है।

जीने में ही विश्वास होता है, बस कहने मात्र से विश्वास नहीं होता ऐसा मैंने स्वीकार किया।

इस प्रकार जीते हुए लोगों तक इस बात को कैसे पहुंचाया जाए? इस पर सोचने पर शिक्षा विधि द्वारा इसे प्रवाहित करने का उद्देश्य से वांड़मय तैयार किया। अनुसंधान पूर्वक क्या उपलब्धि हुई? अनुसंधान की उपलब्धि है "समाधान"। सभी दिशाओं, आयामों, कोणों, परिप्रेक्षयों के लिए समाधान उपलब्ध हुआ। अनुसंधान पूर्वक मेरा स्वयं का अच्छी तरह समाधान पूर्वक जीना बन गया। समाधान को जब प्रशिक्षित करने लगे तो लोगों को लगने लगा हमको भी चाहिए, हमको भी चाहिए... ऐसा होते होते हम यहां तक पहुंचे हैं।

मेरे अनुसंधान की उपयोगिता समय आने पर मेरी आवाज में भी बल आया।

इससे यह कहना बना "अपराधों से सहमत हो कर हम इस धरती पर ज्यादा दिन रह नहीं पाएंगे।'' दूसरी बात "समझदारी से समाधान संपन्न हो कर हम इस धरती पर चिरकाल तक रह सकते हैं।" समझदारी के लिए "चेतना विकास मूल्य शिक्षा" अध्ययन के रूप में हमने शिक्षा विधि से प्रस्तुत किया है।

"हर मानव सुधर सकता है" यह इस बात से पहली संभावना है।

हर मानव सुधर कर अपने सुधार को प्रमाणित कर सकता है। यह संभावना में विस्तार को क्या नापा जा सकता है? हर मनुष्य मानव सुधरने पर क्या होगा? जैसे हर गाय अपने वंश के अनुसार गायत्व के साथ व्यवस्था में जीता है... जैसे हर वृक्ष अपने बीज के अनुसार वृक्षत्व के साथ व्यवस्था में रहता है... उससे पूर्व जैसे हर पदार्थ परिणाम के अनुसार अपने त्व सहित व्यवस्था में रहता है... इस प्रकार मानव सुधरने के बाद मानवत्व सहित व्यवस्था में जी सकता है।

इस अनुसंधान पूर्वक "मानव का अध्ययन" संभव हो गया है। यह प्रस्ताव आदर्शवाद और भौतिकवाद दोनों का "विकल्प" है।

आदर्शवाद शुरू भी "रहस्य" से करता है और उसका अंत भी "रहस्य" में ही होता है। दूसरे भौतिकवाद से "सुविधा संग्रह" ही जीने का लक्ष्य बनता है। सुविधा संग्रह का कोई तृप्ति बिंदु होता नहीं है। कितना भी सुविधा पैदा करें और सुविधा पैदा करने की जगह बना ही रहता है। कितना भी संग्रह करें और आगे की संख्या रखा ही रहता है। विकल्प विधि से सोचने पर यह निकलता है "मानव लक्ष्य समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व है।" हमें "सुविधा संग्रह" के पीछे ही लगा रहना है या "समाधान समृद्धि" की ओर चलना है यह हमको निर्णय करना है।

समझदारी का मतलब है सह अस्तित्व स्वरूपी अस्तित्व को समझना और सहअस्तित्व स्वरूप में जीना।

सहअस्तित्व स्वरूप में जीने में हमारी न्यायपूर्वक जीने की बात बनती है। न्यायपूर्वक जीने में किसी का किसी पर “आरोप”, किसी की किसी से “शिकायत”, किसी की किसी पर “आपत्ति” बनाना नहीं है। सहअस्तित्व विधि को छोड़कर यदि हम व्यक्तिवादी / समुदायवादी विधि से जीने के बारे में सोचते हैं, तो समस्याएं तैयार हो जाती हैं।

मानव मानवीयता पूर्वक जीने से व्यक्तिवादिता से मुक्त होता है। चेतना विकास को जब समझते हैं, जीते हैं तो व्यक्तिवाद / समुदायवाद दोनों से मुक्त हो जाते हैं। - (जीवन विद्या राष्ट्रीय सम्मेलन, 1 अक्टूबर 2009, हैदराबाद)

अध्याय २ - समाधान की आवश्यकता

समाधान और द्वन्द्व

जब से मानव सुनने-सुनाने योग्य हुआ, तब से भय और प्रलोभन वश ईश्वरवादिता क्रम में से ईश्वर को श्रेष्ठ तथा जीव-जगत का कर्त्ता, भरता, हरता मानता ही आया। कुछ समय बाद भौतिकता का नाम आया, तब से भौतिकतावादी, भौतिकता को अपने में द्वन्द्व ही बताते आये हैं। द्वन्द्व बताने वाले अपने को अत्यधिक वैज्ञानिक मान लिए हैं। विज्ञान को विधिवत अध्ययन मानते है।

विधिवत अध्ययन का सार तर्क संगत होने से है। इस विधि से अथवा उपक्रमों से मानव ने भौतिक संसार में संधर्ष विधि से विकास को माना, जबकि आदर्शवादियों ने जगत् को ईश्वर की कृपा से उत्पन्न मान लिया।

द्वन्द्व कहने के मूल में अंतरविरोध और बाह्य विरोध नामक दो बातों की स्वीकारते हुए, अंतर्विरोध को विकास का आधार बताया गया। बाह्य विरोध को संघर्षपूर्वक स्व-वैभव अथवा स्वयं की ताकत को प्रदर्शित करने का आधार बताया गया। जबकि वास्तविकताओं का परिशीलन करने पर इसके विपरीत तथ्य उभर आए। यह धरती अपने में व्यवस्था है। इसके साक्ष्य में इसी धरती पर "चारों अवस्थाओं" ने सह-अस्तित्व को प्रमाणित किया है। इसी धरती पर पदार्थावस्था (मिट्टी, पत्थर), प्राणावस्था (पेड़, पौधे), जीवावस्था (पशु, पक्षी) और ज्ञानावस्था (मानव) देखने को मिला है।

यह सब देखने वाला अर्थात् समझने वाला ज्ञानावस्था का मानव ही है।

अभी तक मानव परंपरा में समझदारी की स्थिति नही बन पाई है। जबकि मानवेतर प्रकृति अर्थात पदार्थ, प्राण एवं जीवप्रकृति सानुकूलता के साथ "त्व " सहित व्यवस्था के रूप में है। पदार्थ, प्राण, जीव इन तीनों अवस्थाओं में परस्पर पूरकता सिद्धांत प्रभावशील रहता ही है। जैसे पदार्थावस्था प्राणावस्था के लिए प्राणावस्था पदार्थावस्था के लिए पूरक है- यह स्पष्ट है।

ये दोनों अवस्थाएँ जीवावस्था के लिए पूरक हैं। जीवावस्था भी प्राणावस्था और पदार्थावस्था के लिए पूरक है यह प्रमाणित है।

जैसे- सम्पूर्ण जीव पूरक होने के क्रम में पदार्थावस्था को अपने मल, मूत्र और शरीर के उपयोग से और वनस्पतियों में होने वाले अनेक संक्रामक और आक्रामक रोगों को अपने मल मूत्र श्वास एवं शरीर गंध से दूर करने में सहायक हुए हैं। जीवों का मल मूत्र और श्वसन क्रिया महत्वपूर्ण भूमिका निभाता हुआ देखने को मिलता है। इस प्रकार इन तीनों अवस्थाओं का परस्पर पूरक होना, देखने को बन पाता है।

मानव "ज्ञानावस्था" की इकाई होते हुए इस बीसवीं शताब्दी के दसवीं दशक तक मानवेत्तर प्रकृति के साथ पूरक होने के स्थान पर इन्हें सर्वाधिक क्षतिग्रस्त करने में लगा ही रहता है।

इतना ही नहीं, मानव मानव के साथ विद्रोहात्मक-द्रोहात्मक, शोषणात्मक और युद्धात्मक विधियों को अपनाता हुआ स्वयं क्षतिग्रस्त होते हुए अनेकों को क्षतिग्रस्त करने - कराने में लगा रहता है। यह सुदूर विगत से आई समस्याओं का निचोड़ है। इन समस्याओं का समाधान भौतिक-रासायनिक वस्तुओं तथा जीवन व्यापक और अनंत इकाई रुपी वस्तुओं के अविभाज्य अध्ययन से संभव है। इससे समाधानात्मक अवधारणाएँ मानव सुलभ होती हैं।

ऊपर की बातों में मानव के अतिरिक्त तीनों अवस्थाओं के अध्ययन की झलक आई है।

उसके अनुसार और वर्तमान में यही देखने को मिलता है कि "अस्तित्व में प्रत्येक एक अपने त्व सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार है।"(त्व – जैसे पाषाणत्व, नीमत्व, बगत्व...) इसके प्रमाणों को पूरक विधि से पदार्थावस्था, प्राणावस्था जीवावस्था में वर्तमान होना स्पष्ट किया गया। इसी क्रम में मानव में, से, के लिए भी व्यवस्था अपेक्षित है।

"अस्तित्व में व्यवस्था ही समाधान है, अव्यवस्था ही समस्या है" मानव अभी तक समस्याओं से जूझते ही आया है।

यथार्थ यही है कि मानव मानवत्व सहित व्यवस्था है और समाधान है। मानव सहज रूप में ही अपनी कल्पनाशीलता कर्म स्वतंत्रता सहज महिमा के आधार पर अनेक प्रयोग करता है अथवा करने योग्य है ही। कल्पना करने पर पता चलता है कि हर व्यक्ति अपने में समाधान चाहता है। इसी प्रकार न्याय चाहिए या अन्याय, शांति चाहिए या अशांति, संघर्ष चाहिए या समाधान-इन सब कल्पनाओं में मानव सहज ही शांति, न्याय, समाधान जैसे तथ्यों को स्वीकारता है।

मानव स्वाभाविक रूप में ही सुख चाहता हैं भले ही सुख को वह नहीं जानता, इसके बावजूद वह सुख का पक्षधर होता है।

अधिकांश मानव सुख के लिए ही रुचियों, प्रलोभनों के पीछे दौड़ते रहते हैं। इस तथ्य के निरीक्षण परीक्षण के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि परम्परा जिन दिशा कोणों में प्रोत्साहित करता है अथवा जितना जागृत हुआ रहता हैं उसी के अनुरुप दिशा निर्देशन कर पाता है। उक्त समस्या के कारण तत्वों का निरीक्षण परीक्षण किया गया। इसका उत्तर यही मिला कि मानव ने मूलत: मानव को पहचानने में सह-अस्तित्व रूपी परम सत्य को समझने में ही भूल किया है।

कोई भी मानव सुख चाहता है न कि दुख, समाधान के पक्षधर है न कि समस्या का; व्यवस्था चाहता है न कि अव्यवस्थ। यह धरती तापग्रस्थ हो चुकी है, प्रदूषण छा गया है, मानव का इस धरती पर रहने का प्रश्न चिन्ह लग चुका है।

वर्तमान मानव समाज में भय , प्रलोभन, आस्था

मानव का सर्वेक्षण करने पर पता चलता है कि :-

- **मानव भय, प्रलोभन एवं संघर्ष से मुक्ति चाहता है तथा आस्था से विश्वास का प्रमाणीकरण चाहता है।**
- **मानव लाभोन्माद, भोगोन्माद से मुक्ति एवं विकल्प का स्पष्टता चाहता है।**
- **मानव शासन से मुक्ति एवं व्यवस्था का ध्रुवीकरण चाहता है।**

सुदूर विगत से मानव परम्परा भय, प्रलोभन, आस्था, संघर्ष से गुजरती हुई देखने को मिलती है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सर्वाधिक मानव संघर्ष को नकारते हैं। भय को नकारते हैं। कुछ लोग सोचते हैं, प्रलोभन और आस्था से छुटकारा पाना संभव नहीं है। कुछ लोग यह भी सोचते हैं कि प्रलोभन और आस्था में ही राहत है।

कुछ लोगों का सोचना है कि इससे छुटकारा पाना जरूरी तो है, परन्तु रास्ता कोई नहीं है।

इन सब स्थितियों में निष्कर्ष यही निकलता है कि भय, प्रलोभन, आस्था और संघर्षो से गुजरते हुए मानव परम्परा का रास्ता; राज्य और राजनैतिक, धर्म और धर्मनैतिक, अर्थ और अर्थनैतिक, शिक्षा-संस्कार सहज वस्तु पद्धतियों का निर्धारण, निष्कर्ष, उसकी सार्वभौमता, सार्थकताओं के अर्थ में देखने को नहीं मिली। इस लम्बे समय की यात्रा में मानव परम्परा में संस्कृति-सभ्यता का, विधि-व्यवस्था का, तथा आचार-संहिता का ध्रुवीकरण एवं निश्चयन नहीं हो पाया। यही जनचर्चा का मुद्दा है।

इन सभी मुद्दों पर सार्थकतापूर्ण निश्चयन को जनचर्चा के सूत्र रूप में प्रस्तुत करने के लिए इस ग्रन्थ का उद्घाटन हुआ है। इसमें सर्वशुभ का सारभूत अर्थ समाहित है।

मानव परम्परा में राज्य, धर्म, अर्थ और शिक्षा-संस्कार सम्बन्धी सार्वभौम निष्कर्षों को पाने का प्रयास सदा ही रहा है। इसकी असफलता का एकमात्र कारण मानव को एक इकाई के रूप में देखने, समझने, अध्ययन क्रम में सजाने, व्यवहार, व्यवस्थागत कार्य-कलापों को साकार करने की दिशा में प्रयास नगण्य रहा है। हर समुदाय ने अपनी-अपनी संस्कृति, सभ्यताओं को मान्यताओं के आधार पर स्थापित कर लिया।

इसीलिए सभी समुदायों की सांस्कृतिक अस्मिता समानान्तर रूप में प्रवृत्त हुई फलस्वरुप बारंबार टकराव की मुद्राएँ-घटनाएँ देखने को मिलती रही।

जबकि अधिकांश मानव वाद-विवाद, झंझटों को नहीं चाहते हैं। परिस्थितियाँ इन तमाम घटनाओं के लिए बाध्य करती रहीं। कोई एक परम्परा अपनाया हुआ राज्य और धर्म अस्मिताएँ, टकराव की स्थिति निर्मित करती रहीं। उसी के साथ-साथ अन्य समुदायों का उलझना एक बाध्यता बनती रही है। इसी उलझन से सामरिक अस्मिता सर्वाधिक रूप में पुष्ट हुई। उल्लेखनीय है कि अधिकांश मानव युद्ध न चाहते हुए भी युद्ध वार्ता-चर्चा में उत्साहित होकर भाग लेते हैं। मानव में यह एक अन्तर्विरोधी विन्यास है।

इसी प्रकार अन्तर्विरोधी मुद्दे के रूप में शोषण को कोई नहीं चाहता है, फिर भी अधिकांश जनमानस व्यापार चर्चा व लाभवादी विधाओं से उत्साहित होते हुए देखने को मिलते हैं।

इस बात से हर व्यक्ति सहमत होता है कि वह मानव ही है। किन्तु अपना परिचय वह किसी वर्ग या समुदायिक पहचान के साथ ही देता है। यह भी अन्तर्विरोध का जीता जागता उदाहरण है। आम जन-मानसिकता के गति, कार्य वार्तालाप के क्रम में यह भी देखने को मिलता है कि सर्व शुभ होने का कार्य राज्य, धर्म और शिक्षा में होना चाहिए। जबकि इन तीनों विधाओं में विशेष और सामान्य का प्रभेद बना ही है। (विशेष और सामान्य का तात्पर्य विद्वान-मूर्ख, ज्ञानी-अज्ञानी, बली-दुर्बली, धनी-निर्धनी के रूप में मान्यता है) यह विशेषकर समुदायगत अन्तर्विरोध के रूप में देखने को मिलता है।

जनचर्चा में यह भी सुनने को आता है कि शिक्षा-संस्कार आदि चारों परम्परा (शिक्षा संस्कार, राज्य, धर्म, व्यापार व्यवस्था) ठीक है और इस बात को स्वीकारा जाता है।

परम्परा सहज विधि से हर मानव संतान किसी न किसी परिवार में समर्पित रहता ही है। जिसके फलस्वरुप परिवार के रूढ़िगत, स्वीकृत खान-पान, बोली, भाषा, रहन-सहन और व्यवहार मर्यादाओं को यथा संभव हर शिशु ग्रहण करता ही रहता है। इसके कुछ दिनों बाद किसी शिक्षण संस्था में भाई-बहनों, मित्रों-गुरूजनों के बीच जो कुछ भी सीखने को, सुनने को, समझने को, पढ़ने को मिलता है इन सबको हर बालक अथवा हर विद्यार्थी अपनी ग्रहणशीलता सहज विधि से ग्रहण करते हैं।

युवा अवस्था को पार करते-करते किसी न किसी धर्मगद्दी, धर्मप्रणाली, धार्मिक रूढ़ियों को स्वीकार लेते हैं। इसी के साथ साथ किसी न किसी देश, राष्ट्र, संविधान और भाषा, जाति चेतना सहित अपनी पहचान को सजाने के लिये हर युवा और प्रौढ़ व्यक्ति यत्न प्रयत्न करते ही हैं।

इसके उपरान्त इस अवस्था तक जो कुछ भी स्वीकारा रहता है उसके प्रति अपनी निष्ठा को जोड़ते हैं। जिन-जिन मुद्दों को स्वीकारे नहीं रहते है उसमें उनकी निष्ठाएँ अर्पित नहीं हो पाती है। इसी कारणवश हर समुदाय में पीढ़ी दर पीढ़ी परिवर्तन की दिशा बनती रहती है। यही मानव परम्परा की विशेषता है। भौतिकता प्रधान दृष्टिकोण से, भोगवादी दृष्टि से मानव को भले ही जीव जानवर कहते हों, किंवा कह रहे हैं इसके बावजूद तथ्य यही है कि जानवरों में यथावत पिछली पीढ़ी के सदृश्य ही अगली पीढ़ी के कार्य-कलाप और प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं।

जबकि मानव परंपरा में पीढ़ी से पीढ़ी में भिन्नताएँ व्यक्त होती ही रही हैं तथा विचार, कार्य, व्यवहार, सुविधा, संग्रह, उपभोग, बहुभोग आदि विधाओं में भी परिवर्तन होता ही आ रहा है।

इसकी समीक्षा में पीढ़ी से पीढ़ी अधिकाधिक सुविधा संग्रह में प्रवर्तित होना देखा गया है। कटट्रवादिता अंधविश्वास और अन्य अर्थविहीन रूढ़ियों के प्रति पुनर्विचार करने के लिए प्रवृत्तियाँ अधिकाधिक लोगों में उदय होती हुई देखने को मिलती हैं। इन्ही तथ्यों से पता चलता है, कि मानव जीव जानवरों से भिन्न है।

भिन्नता का मूल स्रोत सर्व मानव में प्रकाशित कल्पनाशीलता-कर्म स्वतंत्रता ही है।

विगत घटनाओं की स्मृतियों श्रुतियों के आधार पर हर व्यक्ति अपनी कल्पनाओं को दौड़ाने में समर्थ है ही, इसी क्रम में मानव हर घटना के साथ उचित अनुचित को समझने, औचित्यता के प्रति सकारात्मक रवैया अपनाने, अनुचित के साथ नकारात्मक रवैया अपनाने के लिए अपनी कर्म स्वतंत्रता का प्रयोग करता ही है। यह सर्व मानव में सर्वविदित तथ्य है। इस धरती पर आदिकालीन मानव का भिन्न जलवायु में शरीर यात्रा आरंभ होना, सुस्पष्ट हो चुका है। विभिन्न जलवायु में पले

विभिन्न रंग रूप के होने के कारण मानव से मानव की रूप रंग की विषमता, उसी के साथ भाषा की विषमता के संयोग से विरोधों का प्रदर्शन, असंख्य हिंसाओं के रूप में साक्षित है।

प्राकृतिक भय, पशुभय, मानव में निहित अमानवीयता (हिंसा, शोषण, द्रोह, विद्रोह, प्रवृत्ति) का भय अर्थात अथ से इति तक भय के विभिन्न स्वरूपों को परिलक्षित किया गया है और हर व्यक्ति इन्हे परिलक्षित कर सकता है।

भिन्न-भिन्न मानव कुल और परम्पराओं का विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में आरंभ होना एक नियति सहज विधि है। इसी आधार पर ही भिन्न-भिन्न मानसिकता का होना स्वयं साक्षित है। इसे हर व्यक्ति अपनी संतुष्टि के लिए अथवा निश्चयन के लिए सर्वेक्षित कर सकता है। आज की जनचर्चा में इन्ही मुद्दों का उद्घाटन है। प्रधानत: सामान्य जनमानस सुविधा-संग्रह के मुद्दे पर रोमांचित होता हुआ, उत्साहित होता हुआ देखने को मिलता है।

सुविधा-संग्रह विधा में जिनकी कुछ पहुंच बन चुकी है, ऐसे लोगों में भोग, अतिभोग, बहुभोग रोमांचिकता का मुद्दा बना हुआ देखने को मिलता है।

आज की स्थिति का निरीक्षण, परीक्षण करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि राज्य, धर्म, व्यापार में भागीदार सभी मानव सुविधा-संग्रह को छोड़कर दूसरा कुछ कर नहीं पा रहें हैं। आज तक शिक्षा में उन्नयन (विकास) के नाम से व्यवसायिक शिक्षा के रूप में ही शिक्षा का ढाँचा-खाँचा बना हुआ है। शिक्षा रूपी व्यवसाय भी व्यापार के रूप में ही अथवा व्यापार के सदृश ही सुविधा-संग्रह की ओर प्रवर्तित देखने को मिल रहा है।

इन सब को देखकर कृषि में निष्ठा रखने वाले, परिश्रम में विश्वास रखने वालों में सुविधा-संग्रह की ओर प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। क्योंकि चारों गद्दियों में आसीन उनके साथी-सहयोगियों का जलवा और रूतबा ही इनके लिए आदर्श रहा है।

सर्वाधिक लोग आज भी कृषक और श्रमजीवी हैं तथा यही लोग, लोक सामान्य और आम जनता के नाम से जाने जाते हैं। भ. व. (1-25)

प्राकृतिक असंतुलन

पदार्थावस्था से प्राणावस्था, प्राणावस्था से जीवावस्था, जीवावस्था से ज्ञानावस्था अनुबंधित हैं ही (पूर्णता के अर्थ में संबंध) इसका प्रमाण इस सब का वर्तमान ही है। पदार्थावस्था– मिट्टी, पत्थर, मणि, धातु; प्राणावस्था – पेड़, पौधे, वनस्पति; जीवावस्था- जीव, जानवर; ज्ञानावस्था – मानव। इस आधार पर ज्ञानावस्था से जीवावस्था, जीवावस्था से प्राणावस्था, प्राणावस्था से पदार्थावस्था की परस्परता में अनुबंध है।

इनमें से मानव के अतिरिक्त सभी अवस्थाओं ने अपने अनुबंध को पूरक विधि से प्रमाणित किया है।

क्योंकि पदार्थ अवस्था के अनंतर प्राणावस्था, पदार्थावस्था प्राणावस्था के अनंतर जीवावस्था, पदार्थ अवस्था प्राणावस्था जीवावस्था के अनंतर ज्ञानावस्था का प्रदूभव, प्रकाशन इस धरती पर हुआ है। इस धरती पर मानव की समझ में यह भी आता है कि जीवावस्था, प्राणावस्था, पदार्थावस्था परस्पर पूरक है। वे सब मानव के लिए पूरक है ही; पर बीसवी शताब्दी के अंत तक मानव ने जो कुछ किया है, उससे मानव का अन्य तीनों अवस्थाओं की प्रकृति के साथ पूरक होने के स्थान पर विरोधी होना व विद्रोही होना प्रमाणित हुआ है।

इसका प्रमाण प्रबुद्ध विकसित कहलाने वाले लोगों की ही आवाज है कि :

1. प्रदूषण बढ़ गया जबकि प्रदूषण का कारक तत्व केवल मानव हैं।
2. धरती पर वातावरण असंतुलित हो गया है, बिगड़ रहा है।

3. समुद्र में पानी का सतह बढ़ने लगा है।
4. वन संपदा उजाड़ गया है।
5. ऋतु असंतुलित हो रहे है।
6. जनसंख्या बढ़ रहा है।

ये सब कहने वाले विकसित देश है, विकासशील देश है, अविकसित देश इन देशों के निष्कर्ष को मानते ही रहे है। यही आज की बीसवीं शताब्दी के दसवें दशक तक गंभीर चर्चाओं की वस्तु रही है। भ.व. (105-111)

"सहस्तित्ववादी विधि से समाधान संभव है"

सह-अस्तित्ववादी विचार, ज्ञान, विवेक, विज्ञान को समझना ही समझदारी (समाधान) है। क्योंकि आदर्शवाद और भौतिक वाद के अनुसार जितना जीये, समझे, उससे कोई सर्वशुभ विधि प्रतिपादित नहीं हो पायी। इसे स्पष्ट रूप में रेखांकित कर लेने की आवश्यकता है। सर्वशुभ का स्रोत सह-अस्तित्ववादी ज्ञान, विचार रूपी विज्ञान, विवेक ही है। इसे बहुत आसानी से समझ भी सकते हैं, समझा भी सकते हैं। जीने दे सकते हैं, जी भी सकते हैं हम हर व्यक्ति समझदारी की स्थिति गति में प्रमाणित हो सकते हैं, और लोगों को प्रमाणित होने के लिए प्रवृत्त कर सकते हैं। यही

समझदारी का लोकव्यापीकरण विधि है, सम्पूर्ण मानव का स्थिति गति में प्रमाणित होना। सम्पूर्ण स्थितियाँ सार्वभौमिक और अखंड समाज संबंध के रूप में स्पष्ट है।

इन सभी सोपानों में भागीदारी करना ही प्रमाण का तात्पर्य है। ऐसे प्रमाण मानव में, से, के लिए अनुभव मूलक विधि से परावर्तित होते हैं। ऐसे अनुभवमूलक प्रमाण सार्वभौम होते हैं, इसके लिए जीकर देखना ही एकमात्र उपाय है। मानव विज्ञान विधा में पारंगत होना चाहता है। पारंगत होने में अभी तक की प्रायोगिक, व्यवहारिक अड़चन यही दो मुद्दे में सिमटा। **पहला,** अंतिम सत्य का अता-पता नहीं हो पाया**, दूसरा** मूल मात्रा, ऊर्जा स्रोत व लक्ष्य का पता नहीं चल पाया, **तीसरा** - मानव का अध्ययन न हो पाना, **चौथा -** अस्तित्व का प्रयोजन स्पष्ट न हो पाना रहा।

इस ढंग से विज्ञान में इतना लम्बी चौड़ी निष्ठा से प्रयोग करने के उपरान्त भी सभी स्पष्ट रूप से जीना चाहने वाले कुंठित हो बैठे।

इस मुद्दे पर पहले यह तय हुआ कि भौतिकवादी विधि से अथवा आदर्शवादी विधि से विज्ञान के सामने जितने भी दावे आते हैं अर्थात् प्रश्न चिन्ह आते हैं, उसे आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक ध्रुवों के आधार पर हल करने का प्रयास किया जाय। परन्तु इस आधार पर कोई सार्थक दृष्टि के अनुसार तर्कसंगत और प्रयोजन संगत कार्य व्यवहार, व्यवस्था परंपरा को स्थापित नहीं कर पाया। इसकी अपेक्षा शुभ चाहने वाले, दूसरी भाषा में सर्वशुभ चाहने वाले हर नर-नारी, में ऐसी चाहत पायी जा रही है।

दूसरी ओर कुंठित होने वाली बात स्पष्ट हो चुकी है। कुंठित होने वालों में भी बहुत से लोग सर्वशुभ चाहते ही होंगे।

शुभ चाहने वाली विधि से तर्क संगत करने जाते हैं तो सर्वशुभ ही ध्रुव होता है। अब यहाँ सर्वशुभ की चाहत को सर्व मानव की स्वीकृति अथवा सर्वाधिक की स्वीकृति मानते हुए, आगे और सोचने, समझने, प्रमाणों को प्रस्तुत करने के क्रम में इस आलेख को आगे बढ़ाया है। इस बात का उल्लेख अवश्य है कि हम मानव परिभाषा के रूप में मनाकार को साकार करने वाले हैं और मनःस्वस्थता को प्रमाणित करने में प्रचलित शिक्षा-विधि से असमर्थ रहे हैं।

मनःस्वस्थता ही मानव की मौलिकता है इस मौलिकता को प्रमाणित करने के क्रम में ही मानव सुखी होने के तथ्य को हम अपने में जांच कर प्रमाणित कर चुके हैं। यह सह-अस्तित्व विधि से सफल है।

हर विधा में **हम समाधानपूर्वक जीकर ही सुखी होते हैं। समाधान पूर्वक जीने का सूत्र समझदारी पूर्वक ही सार्थक होना पाया गया। समझदारी सहअस्तित्व पूर्ण दृष्टिकोण से सम्पन्न होता है**। यह तो पहले से अभी तक प्रस्तुत किया

गया अध्ययन से विदित हो चुका है कि आदर्श वादी विधि, भौतिक वादी विधि से, तार्किक विधियों से समझदारी प्रमाणित नहीं हो पाती। प्रस्तावित सहअस्तित्व वादी विधि से ही, अनुभव मूलक विधि से हर नर-नारी समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और भागीदारी के रूप में मानवीय आचरण पूर्वक सर्वतोमुखी समाधान को प्रमाणित कर सकते हैं।

स्वयं में सदा-सदा सुख का अनुभव कर सकते हैं क्योंकि सार्वभौम समाधान सम्पन्न होना ही समझदारी की सर्वप्रथम सीढ़ी है।

हर जागृत मानव में यह विद्यमान रहता ही है। इसी कारणवश सदा-सदा सुखी होने की संभावना भी समायी रहती है। सह-अस्तित्व विधि से स्पष्ट न होने वाली कोई वस्तु ही नहीं है। सम्पूर्ण वस्तु को जो समझने योग्य है, समझता है, समझा गया भी है। भ.व. (113-117)

अध्याय ३ - प्रस्तावना

“सार्वभौम न्याय ”धर्म, सत्य का प्रस्ताव ,

बीसवीं शताब्दी के दसवें दशक में भारत में सर्वेक्षण विधि से निरीक्षण करने पर पता चला है कि सौ व्यक्तियों को हम पूछते है कि सर्वशुभ होना चाहिये कि नहीं ? और आगे विचार और कार्यक्रम होना चाहिये कि नहीं ? ऐसा पूछने पर 90 से अधिक लोग तुरंत स्वीकारते है सर्वशुभ होना चाहिये। विचार और कार्यक्रम होना चाहिये या नहीं - इस मुद्दे पर प्रतिशत निकालने पर पता चला 80 प्रतिशत होना चाहिये, इस बात को स्वीकारते हैं।

जब दूसरे प्रश्न को दो भागो में बाँटते है - कार्यक्रम होना चाहिये कि नहीं, तब इस स्थिति में 60 प्रतिशत लोग सहमत हो पाते हैं। बाकी लोगो में आगे बिना पूछे ही अधिकांश लोग अपने में से बताते है कि ये हो ही नहीं सकता है कर ही नहीं सकते हैं।

ऐसे ही किसी किसी से सुनने को मिलता है वह भी विशेष कर अध्यात्मवादी खेमे में जीते हुए लोग कहते हैं “कई अवतार हो गये कई महापुरूष हुए, सिद्ध हुए, तपस्वी हुए, चमत्कारी हुए, यति-सति हुए, ईश्वर दूत और ज्ञानी हुए ऐसे अनगिनत लोग होते हुए अभी तक सर्वशुभ घटित हुआ नहीं है।” भौतिकवादी खेमे के माहिरो से पूछने पर यही कहते है ये सब सोचने की कहाँ जरूरत है। मोटी तनख्वाह वाला नौकरी, चमकता हुआ गाड़ी, सर्व सुविधा पूर्ण महल और जो इच्छा हुआ वो सब भोगने को ही सुख का स्रोत बताते हैं।

सबको आप जैसी सुविधा नहीं मिलने पर छीना झपटी करेंगे, ये पूछने पर वे कहते है संघर्ष तो करना ही पड़ेगा। उसे नाम देते है “लाइफ इज स्ट्रगल” (जीवन एक संघर्ष है)।

साथ में यह भी बताया करते है कि बेटर लाइफ के लिये स्ट्रगल आवश्यक है। संघर्ष और उससे बनने वाले परेशानियो की ओर ध्यान दिलाने पर बताते है कि प्रकृति में ही अतंर्द्वन्द है इसलिए संघर्ष करना स्वाभाविक है। संघर्ष की अन्तिम मंजिल भी यही बताते हैं जो ज्यादा मजबूत होता है वही अस्तित्व को बनाए रखने में समर्थ होता है। ये सब अधिकांश मेंधावियो को विदित है ही।

शुभेच्छा से विज्ञान को जो अध्ययन किये हुए लोग और विज्ञान पढ़ा हुआ युवा पीढ़ी विज्ञान की गति किसी काला दीवाल के सामने पहुंचना देख चुके है।

ऐसे लोग तत्काल सर्वशुभ के लिये सहमत होते हैं, हुए हैं और सर्वशुभ साकार होने के लिए आवश्यकीय कार्य, व्यवहार, विचार, अनुभव अनुभव प्रमाणो के साथ जीने में तत्पर हो चुके हैं। इस मुद्दे को इसलिए यहाँ स्पष्ट किया गया कि रहस्यमयी ईश्वरवादी और भौतिकवादी (संघर्ष केन्द्रित) विधियों से मानव का अध्ययन मानव के लिये सन्तुष्टिदायक नहीं हो पाता है। क.द. (48-50)

जब इस संसार में मानव से पुछा जाये कि “आप सही चाहते है या गलत?” तो हर व्यक्ति सही के पक्ष में ही सहमति प्रदान करता है। साथ ही सही और गलत क्या है? - यह पूछने पर यह उत्तर निकलता है कि सही का संक्रमण बिन्दु या सीमा रेखा स्पष्ट नही है। यह पूर्ववर्ती दोनों विचारधाराओं के अनुसार प्राप्त तर्क का स्वरूप है।

सही और गलत का संक्रमण बिन्दु अथवा सीमा रेखा जागृत मानव को समझ में आता है। भ. व. (129)

जब कि प्रौद्योगिकी विधा से गुजरता हुआ आज का मानव भय-प्रलोभन के स्थान पर न्याय की आवश्यकता पर ध्यान देने योग्य हुआ। क्योंकि प्रौद्योगिकीय कार्यवाही क्रम में समृद्ध, संतुलित धरती का शक्ल बिगड़ गयी। युद्ध सम्बन्धी आतंक परस्पर समुदायों में पहले से ही रहा। उसी के साथ-साथ धरती और धरती के वातावरण सम्बन्धी असंतुलन का भय और धीरे-धीरे गहराता जा रहा है। इसी के साथ-साथ जनसंख्या बहुलता, मानव चरित्र और प्रौद्योगिकी के योगफल

में अनेकानेक रोग और विपदाओं का सामना करता हुआ वर्तमान में मानव कुछ प्रतिशत विद्वान, मनीषी विकल्प के पक्षधर हैं या आवश्यकता को अनुभव करते हैं। इसी बेला में विकल्प की सम्भावना समीचीन हो गया।

ये तो सर्वविदित है कोई भी अनुसंधान-अध्ययन विधि पूर्वक प्रस्तुत होने पर शिक्षा संस्थाओं के माध्यम से लोकव्यापीकरण की आशा की जाती है।

अध्ययनकारी विधि को इस प्रकार सोचा गया है कि तर्क संगत प्रणाली सत्य समझ में आने के विधि, संगीतीकरण की अपेक्षा अभी तक की अध्यवसायिक मन:पटल में आ चुकी है। यह भी मान्यता है – "सत्य है।" सत्य क्या है? इसका उत्तर अभी तक शोध के गर्भ में ही निहित है। अतएव विकल्प के रूप में अस्तित्वमूलक, मानव केंद्रित चिंतन प्रस्ताव के रूप में मानव सम्मुख प्रस्तुत हुआ है। अ.श. (128-129)

विकल्प मध्यस्थ दर्शन के अनुसार :-

1. सर्वमानव को न्याय चाहिए, न कि फैसला।

2. सर्वमानव को व्यवस्था चाहिये, न कि शासन।

3. सर्वमानव को समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व चाहिये न कि अतृप्ति से ग्रसित संग्रह, सुविधा एवं रहस्य।

ऐसा न्याय,व्यवस्था, समाधान संभव है या नही? इस अध्याय पर इसी पर चर्चा है, संभावना प्रस्ताव की प्रस्तुति है।

"अस्तित्व में व्यवस्था है, भ्रमित मानव ही समस्या पैदा कर्ता है" - ज.व

मानाव ही ऐसी इकाई है जो प्राकृतिक सहज क्रियाकलापों में हस्तक्षेप करता है, फलत: ह्रास विधि ज्ञान को विज्ञान कहना बनता है। यथा- मेंढक, सांप, आदमी, परमाणुओं को काटो, धरती को काटो-उड़ाओ ये सब कल्पनाएं मानव में होता है। अपनी कल्पनाओं के अनुसार प्रयोग करने का अधिकार मानव में होता है। इन्हीं प्रयोगों के चलते मानव को अथवा हर भ्रमित मानव को अव्यवस्था में जीने की विवशता को भी स्वीकार करता है। यही सर्वदृष्टिगोचर घटना अव्यवस्थित मानव ही अव्यवस्था के लिए प्रयत्न करता है यह भी बात अव्यवस्था के कारक तत्व के रूप में मानव को पहचाना जा सकता है।

इस प्रकार रचना-विरचनाएं अपने संपूर्णता के साथ ही वैभवित रहते हुए देखने को मिलता है।

जैसे सूरज विरल रूप में होते हुए भी नियंत्रित रहना पाया जाता है। इसी प्रकार अनेक ग्रह-गोल विरल रूप में नियंत्रित है, कुछ ग्रह-गोल ठोस रूप में नियंत्रित है और कुछ ग्रह-गोल ठोस रूप के बाद संपूर्ण रासायनिक क्रिया-प्रक्रिया सहित रचना-विरचना के रूप में वैभवित रहना पाया जाता है। ऐसी समृद्ध धरतियों में से यह धरती जिसमें मानव शरण लिया है साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत है।

अतएव **अव्यवस्था के लिए कारक कोई इकाई अस्तित्व में देखने को मिला है, वह केवल भ्रमित मानव है। इस आशय से भी स्पष्ट होता है कि हर भ्रमित मानव ही जागृत होना एक आवश्यकता है।** अ.श. (85-86)

"मानव सुख धर्मी है"

धर्म का तात्पर्य धारणा है। धारणा – जिससे जिसका विलगिकरण न हो, वही उसकी धारणा है। जैसे पदार्थ (मिट्टी, पत्थर) में अस्तित्व धर्म (होना) पाया जाता है. 'होने' से पदार्थ को अलग नही किया जा सकता है। प्राण (पेड़ - पौधे) से अस्तित्व सहित पुष्टि (वृद्धि), जीवों में अस्तित्व, पुष्टि सहित जीने की आशा (जैसे बाग, कुत्ते, भालू को जीने की आशा से अलग नही किया जा सकता)।

मानव धर्म, मानव की धारणा, प्रत्येक मानव में सुख, शांति, संतोष और आनन्द के अर्थ में नित्य वर्तमान होना पाया जाता है। **किसी भी मानव का परीक्षण करने पर यह पाया जाता है कि सुख, शांति, संतोष, आनन्द के आशा अपेक्षा में ही संपूर्ण कार्यकलाप विन्यासों को करता है**। परीक्षण क्रम में 5 ज्ञानेन्द्रियों (शब्द, स्पर्श, रूप, गंध) से जो कुछ भी पहचानता है, पहचानने के मूल में प्रवृत्ति है वह सुखापेक्षा ही दिखाई पड़ती है।

संपूर्ण मानव संपूर्ण प्रकार के अध्ययनों को सुखापेक्षा से ही किया रहता है।

प्रत्येक मानव से सम्पादित होने वाली संपूर्ण अभिव्यक्ति संप्रेषणा, प्रकाशनों का परीक्षण से भी सुख-शांति, संतोष, आनन्द सहज आशा आकांक्षा से ही व्यक्त होना पाया जाता है। अस्तित्व में नित्य वर्तमान प्रकाशन को सुख की अपेक्षा आकांक्षा से ही स्वीकारना चाहता है। यही सुख, शांति, संतोष, आनंद परंपरा में प्रमाणित होने की स्थिति में समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व के रूप में मूल्यांकित हो जाता है। क.द. (29)

प्रत्येक मानव सहज रूप में समाधान को स्वीकारता है न कि समस्या को क्योंकि समाधान सुख के रूप में ही होना समझ में आता है। अस्तु मानव व्यवस्था में जीने, व्यवहृत होने के फलस्वरूप ही नित्य समाधान अक्षुण्ण (निरंतर) रहना पाया जाता है। क.द. (48)

अस्तित्व मूलक मानव केंद्रित चिंतन विधि से अस्तित्व तथा अस्तित्व में मानव का अध्ययन करने पर पाया जाता है :-

- अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व है, व्यवस्था है।
- मानव जाति एक (शरीर रचना के आधार पर)
- सर्वमानव में मानवत्व समान (मानवीयता के आधार पर)
- सर्वमानव में शुभाकांक्षा समान (सहअस्तित्व के आधार पर)
- सर्वमानव में मानव धर्म समान (सुख के आधार पर)
- धरती एक अखंड राष्ट्र है (रचना के आधार पर)
- सर्व मानव में लक्ष्य समान (जागृति के आधार पर)

समझदारी से समाधान। समाधान = सुख | ज.व. (100)

मानव मात्र शरीर कृत्यों से तृप्त नही है (आहार, निंद्रा, भय, मैथुन) | मानव में कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता सहज प्रकटन है। मानव स्वयं अस्तित्व का ज्ञाता होना चाहता है। संबंधों में जीना चाहता है। प्रत्येक मानव सुखी होना चाहता है। मानव की मूल अवश्यता = सुख। मूल आवशक्यता = सुख = समाधान = समझदारी = ज्ञान। समझदारी ही समाधान है। समाधान स्वयं सुख है। इस प्रकार संवाद विधि से स्पष्ट होता है कि मानव सन 2000 तक जागृति क्रम में ही जिया। जागृति की अपेक्षा बनी रही और जागृति के प्रस्ताव के रूप में मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद मानव के समक्ष उपस्थित हुआ।

इससे यह स्पष्ट हो गया जीव संसार के सदृश्य मानव शरीर स्वस्थता के आधार पर जीने जाते है तो शरीर स्वस्थता का प्रयोग भोग और संघर्ष व युद्ध में ही होता है।

अधिकाधिक उत्पादन-कार्य भी भोग और युद्ध के लिए ही हो रहे है। यह सभी समुदाय गत मानव का स्वरूप है जबकि मानव सुखी होना चाहता है। युद्ध और भोग विधि से सुख और सुख की निरन्तरता नहीं हो पाई। इसीलिए मानव व्यवस्था में जीने में सफल नहीं हो पाया। सुखी होने के लिए समाधानित होना जरूरी है। **समाधान के लिए समझदारी और व्यवस्था में जीने की तमन्ना और अभ्यास आवश्यक है**। इस क्रम में हम परम्परा के रूप में व्यवस्था में जीते हुए

समाधान समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व पूर्वक सुखी होना, पूरी परम्परा सुखी होना मानव व्यवस्था के आधार पर जीना संभव हो जाता है।

इसीलिए हम यह निर्णय कर सकते है मानव समझदारी पूर्वक ही सफल होता है। समझदारी मानवीयतापूर्ण शिक्षा-संस्कार पूर्वक सर्व सुलभ होना पाया जाता है।

इस विधि से हम इस बात पर निर्णय कर सकते है संवाद भी कर सकते है कि जीव संसार शरीर अपनी आहार पद्धति से विहार पद्धति से स्वस्थता को प्रमाणित करते है। मानव अपने आहार, विहार, व्यवहार पूर्वक सर्वतोमुखी समाधान को प्रमाणित करने की आवश्यकता आ चुकी है। इसलिए हर नर-नारी को सुखी होने के अर्थ में जीना स्वीकार है। इसे सार्थक, सुलभ अथवा सर्वसुलभ होने के अर्थ में मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्व वाद के अंग भूत व्यवहारात्मक जनवाद (पुस्तक) प्रस्तुत हुआ है। भ.व. (82-84)

समाधान मानव परम्परा के लिए स्वीकृत आवश्यकता, प्रधान आवश्यकता अथवा परम आवश्यकता है। समाधान अपने में क्यो, कैसे का सहज उत्तर है। हर मुद्दे के साथ क्यो, कैसे, कितना का प्रश्न होता ही है। जितने भी **क्यों की बात आती है या प्रश्न उठता है उसका उत्तर का आधार मूल कारण ही होता है**। कैसे का उत्तर हम पाने के लिए दौड़ते हैं। **प्रक्रिया, प्रणाली पद्धति के सूत्रों के आधार पर प्रक्रियाएँ स्पष्ट हो जाती है**। कितना का उत्तर, फल परिणाम और आवश्यकता की तृप्ति के अर्थ में स्पष्ट हो जाता है। इसकी स्पष्ट चर्चा करने के योग्य इकाई केवल मानव ही है।

सहअस्तित्व को समझना ही जागृति है। जागृति = सुख।

व्यवस्था सह अस्तित्व सहज अभिव्यक्ति है। यह अस्तित्व सहज रूप में हैं। अस्तित्व सदा ही सह अस्तित्व के रूप में वर्तमान है। सह अस्तित्व ही व्यवस्था के रूप में व्याख्यायित और व्यक्त है। व्यवस्था और उसकी अक्षुण्णता (निरंतरता) के प्रति मानव भ्रमित रहा, अत: मानव का पीड़ित रहना अवश्यंभावी रहा। इसीलिए अव्यवस्था की समझ मानव को आदि काल से ही पीड़ा के रूप में रही है।

मानव व्यवस्था की आशा आकांक्षा के आधार पर ही परिवर्तनों को स्वीकारते आया है।

मानव का विभिन्न इतिहास इस बात को उजागर करता है। और इस समय में अथवा इस संघर्ष युग में मानव ने अपने आप में सुविधा भोग के लिए द्रोह, विद्रोह, शोषण और युद्ध को निश्चित औजागर मान लिया है। आज की स्थिति में सुविधा की परिभाषा यही दिखाई पड़ रही है। मानव जाति जिसको सुविधा मान रही है उसका मूल ध्रुव संग्रह है।

संग्रह पर ही सुविधा और भोग टिका हुआ है।

यह पूर्णतया शहरी जिंदगी में इसी प्रकार दिखाई पड़ता है। शहर में अच्छी सड़कें, अच्छा घर, अच्छी गाड़ी, अच्छी दवाई, अच्छे खिलौने, और घर के अंदर जितने भी आधुनिक, अत्याधुनिक ग्रहशोभा और उपयोगी मानी गई चीजें, जैसे फ्रिज, कूलर, वातानुकूलन, मिक्सी, ग्राइंडर और छत पर सजाने के लिए सभी इंतजामात, चमकता हुआ बाथरुम, बैडरूम, ड्राइंग रूम और किचन, इन्हीं प्राप्त सुविधाओं को प्रमाणित करने की स्थली माना गया है। साथ ही घर में मनोरंजन के लिए टीवी, रेडियो, फोटोग्राफिक कैमरे, रिकॉर्डर माने गए हैं। सुविधाजनक खुशहाली की अभिव्यक्ति कैमरा, वीडियो कैमरा, बड़े-बड़े एल्बम हैं। इनको उपलब्धि माना जाता है। इन सभी सुविधाओं को आदर्श मानकर प्राप्त कर लिया गया है।

सुविधा के लिए संपूर्ण स्त्रोत यह धरती है। धरती से प्राप्त पदार्थों को सुविधा योग्य बनाना, उसकी तकनीकी प्रक्रिया के लिए प्रौद्योगिकी अभ्यास इस धरती पर स्थापित हो चुका है।

बहुत अधिक तादाद में आज धरती को वस्तुओं को सुविधा योग्य वस्तुओं में परिवर्तित करना है, ऐसी सभी वस्तुएँ सभी मानव को मिले, ऐसा सोचने पर आज की स्थिति भी जितनी सुविधाजनक वस्तुएँ हैं, वे सभी वस्तुएँ आज जितनी संख्या में इस धरती पर मानव है, सबको उतनी तादाद में बनी वस्तुएं नहीं मिल सकती है।

इसके दो प्रधान कारण हैं –

1. इस धरती पर उतनी वस्तुएं नहीं है, जिससे एक व्यक्ति को यह परिवार को उसकी कल्पना के अनुसार सुविधा मिल सकें। इन कल्पना के अनुकूल वस्तुओं को बनाने के लिए आज जितनी प्रौद्योगिकी है उससे कम से कम अरबों गुना अधिक आवश्यकता बनी है। ऐसी अरबों गुना प्रौद्योगिकी के लिए धरती के स्त्रोत पूरा होना संभव नहीं है। इसके लिए यह धरती छोटी पड़ेगी। इससे होने वाले प्रदूषण को भी धरती अपने में समाने की स्थिति में नहीं रहेगी। इसलिए यह भी पुनर्विचार करना आवश्यक है।
2. सुविधा संग्रह और भोगवाद "व्यवस्था" का सूत्र व्याख्या और प्रयोजन का आधार नहीं बना सका। उक्त दो बिंदुओं में केवल सुविधा की राशि और व्यवस्था की झलक अथवा व्यवस्था की कसौटी मात्र से ही निष्कर्ष निकलता है। इसके अलावा मानव के धरती के साथ जो अत्याचार किया हैं उसके लिए अपराध कार्यों में पारंगत बनाने का धंधा बना रहा है, इसके निराकरण का, उसके समाधान के लिए भी कोई ना कोई उपाय चाहिए।

उपाय के रूप में "समाधानात्मक भौतिकवाद" प्रस्तुत है। इस दशक के कार्य रूप के अनुसार सुविधावादी वस्तुएँ जो भोगने के लिए आवश्यक मान ली गई हैं, उनके लिए जितनी वस्तुओं को धरती से निकालकर उपयोग कर रहे हैं, उससे भी अधिक वस्तुओं को युद्ध सामग्रियों के रूप में परिणत कर रहे हैं।

किसी देश में इस समय जन सुविधा के लिए वस्तुएँ की तादाद कम है, इससे अधिक युद्ध सामग्री के लिए उपयोग करते होंगे।

इन स्थितियों पर नजर डालें तो यह पता चलता है कि धरती में स्थित वन, खनिज, साधन, अथवा द्रव्य कितने दिन तक पूरे पाते हैं। इन सब को यह निष्कर्ष हम निकाल सकते हैं कि एक- दो पीढ़ी तक ही धरती में यह सब द्रव्य पूरे पाएंगे। इससे हमें ज्ञात होता है कि भविष्य की पीढ़ियों के साथ हम कितना अपराध कर रहे हैं? खिलवाड़ कर रहे हैं या मदद कर रहे हैं ? इस बात का भी आंकलन आवश्यक है। " नैसर्गिकता के साथ हम क्या करें?" नैसर्गिकता का संतुलन इस धरती के लिए ऋतुमान के रूप में प्राप्त है। इसको हर मानव देख पा रहा है।

अस्तु मानव की स्वयं व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी आवश्यक है। इस धरती में ऋतु संतुलन को ध्यान में रखते हुए मानव के लिए जीने की कला, विचार, शैली और अनुभव को विकसित करना अनिवार्य स्थिति बन चुका है इसका आधार है "सह-अस्तित्ववाद प्रमाणित करना।" ज.व. (71)

अस्तित्व निरंतर सामरस्य है, संगीतमय है, समाधान है। यही परम सत्य है।

मानवत्व सहित मानव स्वयं व्यवस्था है; यही सर्वतोमुखी समाधान, सुख, परम सौंदर्य और मानव धर्म हैं। इस प्रकार मानव धर्म के आधार पर ही एक इकाई के रूप में मानव को पहचाना जा सकता हैं।

भाषा, अर्थ वस्तु

इस प्रकार समाधान युग में संक्रमित होने के लिए मानव को एक इकाई के रूप में पहचानना अनिवार्य स्थिति है अथवा परम आवश्यकता हैं। इसी के साथ मानव भाषा को पहचानना भी आवश्यकता के रूप में अथवा अनिवार्यता के रूप में आई। बोलने का तरीका, ध्वनि, उच्चारण, मानव सहज कर्म स्वतंत्रता और कल्पनाशीलता के चलते अनेक प्रकार से अभ्यस्त हो सका है।

मानव भाषा का अर्थ एक ही होता है अथवा सभी भाषाओं का अर्थ एक ही होता है। यह भाषा अस्तित्व में किसी वस्तु, कार्य, देश, काल, प्रक्रिया, परिणाम, स्थिति, गति का निर्देशित व इंगित होना हैं।

अर्थात् भाषा का अर्थ अस्तित्व सहज वर्तमान ही होता है। जैसे कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा, गधा, बैल, बाघ, भालू, धरती, पानी, आकाश, तारागण, सौर व्यूह , मानव आदि जितने भी नाम लेते हैं ये अभी तक भी सभी भाषाओं में इनके लिए प्रयुक्त ध्वनि

गति तरंग और उसको प्रस्तुत करने की अंग अवयवों का उपयोग और तरीका- ये सब मिलकर भाषा का स्वरुप होता हैं। जैसे- हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू आदि भाषाओं के नाम हैं। इन भाषाओं से इंगित होने वाली वस्तुएँ अस्तित्व में हैं, अस्तित्व से हैं, अस्तित्व के लिए हैं, वास्तविकता है।

इस आधार पर पानी के लिए कोई भाषा बोली जाये उसका अर्थ 'वस्तु' (वास्तविकता) के रूप में पानी ही है।

प्रत्येक वस्तु के लिए कोई भाषा अपने तरीके से प्रस्तुत हो उस अर्थ में मिलने वाली वस्तु अस्तित्व में ही है। इस प्रकार मानव किसी भी प्रकार से भाषा का प्रयोग करें उसमें अर्थ रुपी वस्तु अस्तित्व में होना प्रमाणित होता है। इस प्रकार कोई भी भाषा हो या कितनी भी भाषाएँ हों उसका आश्य या अर्थ अस्तित्व में किसी निश्चित वस्तु को निर्देशित करना ही है। भ.व. (97-101)

मानवत्व अपने में जागृति के रूप में सुस्पष्ट है। जागृति अपने में समझदारी का स्वरूप होना स्पष्ट हो चुकी है। समझदारी अपने आप में सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व होना स्पष्ट हुआ। इसी क्रम में अर्थात जागृति क्रम मे मानव परम्परा का वैभव, मानवत्व सहित महिमा, परिवार में प्रमाणित होना समग्र व्यवस्था में भागीदारी का प्रमाण, विश्व परिवार व्यवस्था तक सोपानीय क्रम मे प्रमाणित होना है। इसी विधि से मानव संबंध और प्राकृतिक संबंध (नैसर्गिक संबंध) संतुलन होना पाया जाता है। नियति विरोधी, प्रकृति विरोधी, मानव विरोधी गति विधियो से मुक्ति पाने का उपाय भी यही है।

हर मानव विरोधो से मुक्ति पाना चाहता ही है। इसी तथ्यवश इसकी संभावना सुस्पष्ट होती है। प्रमाणित होना मानव परम्परा को ही है।

मानव ही भ्रमवश गलतियो को करता हुआ, अपराधो को करता हुआ, द्रोह, विद्रोह, शोषण करता हुआ देखने को मिलता है। इसका साक्ष्य हर देश के संविधान में गलती को गलती से रोकना, अपराध को अपराध से रोकना और युद्ध को युद्ध से रोकने की व्यवस्था दे रखी है। यही शक्ति केन्द्रित शासन, संविधान व्यवस्था मानी गई है। इसके साथ समुदायों का सहमति भी है और विरोध भी है। इसका सर्वेक्षण से पता चलता है स्वयं पर गुजरने में विरोध, असहमति और संसार में घटित होने में सहमति है।

इस क्रम में अभी तक अपराध और गलतियों का सुधार, युद्ध-मुक्ति का उपाय, मानव परंपरा में सूझबूझ के रूप में, कार्य-व्यवहार प्रमाण के रूप में उद्घाटित नहीं हो पाया। कुछ लोग इसकी आवश्यकता को अनुभव करते रहे।

मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद गलती और अपराध के सुधार का उपाय सुझाया। इसी के साथ मानवत्व सहित परिवार व्यवस्था, समग्र व्यवस्था में भागीदारी को मानव स्वीकारने की स्थिति में युद्ध-मुक्ति अवश्यंभावी होना स्पष्ट कर दिया। इसमें इतनी ही आवश्यकता जनमानस और लोककल्याणकारी, राजनैतिक, धर्मनैतिक, समाजसेवी संस्थाओ के पारंगत होने के आधार और शिक्षा विधा में मानवीयता का अध्ययन सुलभ कराने की आधार पर निर्भर है। यह अध्ययन सुलभ होने के उपरान्त ही सर्वसुलभ होना स्वाभाविक है।

हर मानव अपने में, से, के लिए सुलझना ही चाहता है, उलझना नहीं चाहता। उलझते हुए व्यक्तियों का उद्गार यही है उलझन एक मजबूरी है। उलझन से मुक्ति पाने की इच्छाएँ निहित रहती ही है।

इसीलिए सुलझन की संभावनाएँ समीचीन होना सुपष्ट होती है। सभी सुलझन समझदारीपूर्वक मानव व्यवस्था में जीना ही है। सुलझन ही सदा सदा से मानव की अपेक्षा है। सारे अड़चनों का कारण नासमझी है, समस्या है। सम्पूर्ण समस्याएँ मानव की सुविधा, संग्रह, भोग, अतिभोग प्रवृति की उपज है। इन सारी स्थितियों को देखने पर पता चलता है समझदारी ही मानव का समाधान और समृद्धि का निर्वाध गति है, अथवा अक्षुण्ण गति है अथवा निरन्तर गति है। गति सदा सदा से मानव परम्परा के रूप में ही होना सम्भावित है। समझदारी पूर्ण परम्परा ही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था का एक मात्र उपाय है। दूसरी किसी विधि से व्यवस्था की सार्वभौमता और समाज की अखंडता को अभी तक स्पष्ट नहीं कर पाये।

मानव में समझदारी का स्रोत सर्वसुलभ होना ही है। ऐसे कार्य में आप हम सभी को भागीदार होने की आशा अपेक्षा और कर्तव्य है। इसी आशय को सार्थक संवाद में, अवगाहन में लाने का यह प्रयास है। सर्व शुभ हो ! ज.व. (92-95)

समझने की वस्तु तथा विधि

समझने की वस्तु

(क्या समझना है)

समझदारी के लिए, समाधान के लिए, सहअस्तित्व के लिए, सहअस्तित्व को समझना आवश्यक है। इसी शृंखला में, आगे निम्न बिंदुओं पर ध्यानाकर्षण किया गया है:-

1. अस्तित्व में व्यवस्था (सहअस्तित्व)
2. मानव (स्वयं) में व्यवस्था
3. मानव संबंधों में व्यवस्था
   - परिवार में व्यवस्था
   - समाज में व्यवस्था
4. प्रकृति (नैसर्गिकता) में व्यवस्था

समझने की विधि:

(इस प्रस्ताव को कैसे जाँचें)

यह प्रस्ताव (अ) सार्वभौम है?
(ब) सर्वकालिक है?
(स) समझ सके ?
(द) जीने में आता है?

यही इसे जाँचने की विधि है।

(कैसे समझना है) = जांचना

"जाँचने" का तात्पर्य है: निरीक्षण, परीक्षण, सर्वेक्षण करना ।

- **निरीक्षण** का मतलब वस्तु जैसा है, इसे वैसा ही स्पष्टता से समझना।
- **परीक्षण** का मतलब वस्तु के प्रयोजनों को समझना । क्यों हैं, इसे समझना |
- **सर्वेक्षण** का मतलब कितना है? सभी जगह देखना। कितना है, सभी जगह जांचना |

जीना का तात्पर्य, मानव तथा नैसर्गिकता (मानवेत्तर प्रकृति) के साथ सहअस्तित्व प्रामाणिक होना। मानव के साथ न्याय पूर्वक जीना, मानवेत्तर प्रकृति के साथ 'प्राकृतिक नियम' पूर्वक जीना। संवाद (2008)

सहज स्वीकार, स्वीकृति

("सहज स्वीकृति" का मतलब)

सहअस्तित्व सभी मानव को स्वीकार है।

प्रत्येक मानव कल्पना, आवश्यकता, अपेक्षा रूप में सच्चाई को स्वीकारता है। - भ.व. , प. स.

- मानव परंपरा में हर संतान अथवा हर मानव कल्पना सहज स्वीकृति के रूप में जागृति को वर्ना देखा गया है। अ.व. (2000, पृ. 89,170)
- जागृति जीवन सहज स्वीकृति रहता है। - भ.व. (1998) (पृ. 335, 150, -109)
- मानव को समस्याएँ स्वीकृत नही है। अपितु समाधान सहज ही स्वीकृत है।
- मानव शुभ को स्वीकारता है। इसलिए जागृति को स्वीकारने के लिए बाध्य भी है। मानव ही दृष्टा पद (समझने योग्य) में है। इसे स्वीकारने के लिए हर व्यक्ति बाध्य है। बाध्यता का तात्पर्य आवश्यकता, विचार, इच्छा, कल्पना के रूप में स्वीकारने से है। - स.श(1999), पृ. (207,166)
- शैशव अवस्था में ही जीवन को जागृति, अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था स्वीकृत रहता ही है।
- सार्वभौम का तात्पर्य सर्वमानव स्वीकृत हो, स्वीकृति योग्य हो। - म्. वि. (1998) पृ. 201
- सर्वमानव में मानवीयता स्वीकार होता है। -(संविधान 2007) पृ। 42

सहज स्वीकृति - परिभाषा

- **सहज** = स्वभाव गति = तव सहित व्यवस्था, समग्र व्यवस्था में भागीदारी।
- **स्वीकार** = पूर्णता, आवश्यकता, अनिवार्यता के अपेक्षा में किया गया ग्रहण।
- **स्वीकृति** = अपनाया गया = भास, आभास, प्रतीति, अनुभूति। - प.स.(2008)

- 'सहज स्वीकृति': भास्, आभास, प्रतीति कुछ भी हो सकता है | प्रतीति हुआ तो अध्ययन हुआ, प्रतीति नहीं हुआ तो अध्ययन नहीं हुआ | अब जो है, मानव 'सुन लिया' तो 'स्वीकार' हो गया मानता है | सहज स्वीकृति से हम अपने व्यवहार को जांचना आरम्भ कर सकते हैं | इसका आधार के लिए मध्यस्थ दर्शन का सूचना चाहिए | जीवन क्रियाएं, स्व-निरीक्षण विधि से समझ आता है | अस्तित्व में सच्चाईयां अध्ययन में आता है | इसके लिए भी मध्यस्थ दर्शन का विधिवत अध्ययन आवश्यक है | विधिवत अध्ययन से अस्तित्व दर्शन, जीवन, मानवीय आचरण से सम्बंधित सभी वस्तुएं हमें स्पष्ट होते जाते हैं, स्वीकार होते जाते हैं - यह पहले भास्, फिर आभास, फिर प्रतीत होता है | यह अध्ययन विधि से होता है | इस प्रकार 'स्वीकृति' पूरे जीवन में रखा है (संवाद २००९)

(कौन समझेगा)

"पुस्तक समझता नही। यंत्र समझता नही। मानव ही समझता है, जीता है, मानव (स्वयं) ही सुखी-दुखी होता है। इसलिए, मानव (स्वयं) को ही समझना पड़ेगा। प्रत्येक व्यक्ति को समझना पड़ेगा। एक आदमी समझने से बाकी समझ गए ऐसा होता नही।"

खण्ड 2: अस्तित्व सहअस्तित्व है

अध्याय 1 - अस्तित्व में व्यवस्था (सहअस्तित्व)

प्रकृति में निहित पूरकता एवं संतुलन

इस धरती पर चारों अवस्था- पदार्थ, प्राण, जीव, ज्ञानावस्था(मानव) दिखाई देती है। इनमें से पदार्थ, प्राण, जीवों में परस्पर पूरक् दृष्टव्य है। (पदार्थावस्था= मिट्टी, पत्थर; प्रणावस्था= पेड़, पौधे, वनस्पति; जीवावस्था= जीव, जानवर; ज्ञानावस्था= मानव) जीवों के मलमूत्र से, श्वसन से, धरती और प्राणावस्था के लिए पूरक होना पाया जाता है। क्योंकि इसमें स्वभाविक रूप से धरती में उर्वरकता बढ़ती है। जीव संसार वनस्पति संसार के अनेक रोगों को दूर करता हुआ समझ में आता है। इसका प्रमाण जिन जंगलों में जीव-जानवर न हो, उस जंगल में पेड़-वनस्पतियों में अनेक रोगों का होना पाया जाता है।

जिनमें अनेक जीव-जानवर रहते हैं, उन जंगलों में रोग बाधा न्यूनतम होना पाया जाता है। इसे व्यक्ति परीक्षण कर सकता है।

इसी क्रम में फसल संसार में भी खरपतवार, कीड़ा, पक्षियों का आवागमन विशेषकर मधु मक्खियों का संयोग, सभी फसलों में उपकारी होना पाया जाता है। इन सबका जहाँ अभाव रहता है, फसल कम हो जाती है, वहाँ फसलों को नष्ट करने वाले कीड़े बढ़ जाते हैं, हर वर्ष नये-नये रोग तैयार हो जाते हैं। इसीलिए धरती जैसे भी सजी है, उसके ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। इसकी सजावट अपने आप में पूरकता, उपयोगिता विधि से ही हुआ है, इसके प्रमाण में पदार्थावस्था के बाद प्राणावस्था प्रकट हुआ है।

प्राणावस्था में जितने भी प्रजातियाँ समाहित हैं, वे सब पदार्थावस्था के लिए पूरक, उपयोगी होना पाया जाता है।

पदार्थावस्था अपने सभी प्रकार के परमाणु प्रजातियों के इस धरती पर संपन्न होने के उपरान्त ही प्राणावस्था का प्रगटन होना स्वाभाविक रहा है। इससे पता लगता है, प्राणावस्था के लिए पदार्थावस्था पूरक है और पदार्थावस्था के लिए प्राणावस्था पूरक है। प्राणावस्था उपयोगी इस विधि से है कि प्राणावस्था जब विरचित होता है, तब धरती में उर्वरकता बढ़ना शुरु होती है। जैसे-जैसे उर्वरकता धरती में बढ़ती है, वैसे-वैसे प्राणावस्था का उन्नयन इस धरती में होता जाता है। उन्नयन होने का तात्पर्य उन्नत होने से है।

इसका स्वरूप उर्वरकता बढ़ते बढ़ते, झाड़ पौधों सभी में श्रेष्ठता भी बढ़ती गयी जिसको हम गुणात्मक परिवर्तन या विकास भी कह सकते हैं।

जीव संसार के लिए प्राणावस्था उपयोगी होती है और जीवावस्था प्राणावस्था के लिए पूरक होना देखने को मिलता है। जीवावस्था के लिए प्राणावस्था की उपयोगिता इस प्रकार से देखने को मिलता है कि प्राणावस्था में ही पुरुष कोषा और स्त्री कोषा की संरचना प्रारंभ हो चुकी है। जीवावस्था में स्त्री पुरुष शरीर का रचना परस्पर भिन्न रूप में स्पष्ट हो गयी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्राणावस्था में कोष रचनायें जितना उन्नत रहा, जीवावस्था के लिए पर्याप्त नहीं हुआ, और विकसित होने की आवश्यकता रही, चाहे विकास क्रम ही क्यों न हो।

इससे यह ज्ञान स्पष्ट हो जाता है, जीवों के शरीर रचना क्रम में स्त्री पुरुष शरीर रचना का सुस्पष्ट रूप प्रकट हो गयी।

जीवों के लिए आहार, प्राणावस्था से संपन्न होता आया है, इस ढंग से पूरकता और उपयोगिता सुस्पष्ट है। इस प्रकार पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था परस्पर पूरक व उपयोगी सिद्ध हुआ। सर्वप्रथम प्राणावस्था का उपयोग, किसी न किसी जीव परंपरा के शरीर रचना में, प्राणकोषाओं के तृप्ति की उपरान्त ही अग्रिम रचना विधि प्राणकोषाओं में उत्सव के रूप में उभरना स्वभाविक रहा। इसी आधार पर किसी-किसी जीव शरीर से सप्त धातुओं का समावेश और सर्वाधिक समृद्ध मेधस रचना संपन्न हुई।

ऐसे शरीर में ही प्राणकोषाओं के संयोजन से होने वाली प्रजनन प्रणाली मानव शरीर की रचना होना प्राकृतिक प्रणाली रही। ऐसी शरीर रचना विभिन्न परिवेशों में अर्थात् भौगोलिक परिवेश में, विभिन्न जीव शरीरों से निष्पन्न होने की संभावना भी स्पष्ट है।

इसका प्रमाण इस धरती पर अनेक नस्ल के मानव शरीर रचना का होना है। इससे भी अपने नस्ल का ध्रुव बिन्दु, मूलभूत जीव शरीर से मानव शरीर का निष्पत्ति होना स्वीकारा जा सकता है. यह तो स्पष्ट है ही, मानव अपने आधार , आवास, अलंकार, दूरश्रवण, दूरगमन, दूरदर्शन संबंधी आवश्यकताओं के लिए पदार्थ, प्राण, जीवावस्था पर निर्भर है ही। निर्भर होते हुए, संबंध होते हुए इसे ध्वस्त करने में लगे है। "जो भी है"- यह सब "अस्तित्व" ही है। मानव भी अस्तित्व में ही है। आगी अस्तित्व का "सहअस्तित्व" रूप में अध्ययन है।

1.1 **अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व है**

सहअस्तित्व	=	व्यापक वस्तु (सत्ता) में, " भीगा, डूबा, घिरा " (संपृक्त) जड़ चैतन्य प्रकृति
व्यापक वस्तु	=	खाली स्थान, असीम वस्तु
	=	"सत्ता" = साम्य ऊर्जा
संपृक्त	=	भीगा, डूबा, घिरा
		भीगे रहने से उर्जित, घिरे रहने से प्रकृति नियंत्रित, डूबे रहने से प्रकृति क्रियाशील है।
प्रकृति	=	क्रिया = इकाई
जड़	=	पहचानना, निर्वाह करना
चैतन्य	=	(जानना) मानना, पहचानना, निर्वाह करना
	=	जीवन
अस्तित्व	=	होना, अविनशीयता | म.वि. (133-134)

समाधान = सुख। समस्या = दुख। अव्यवस्था का प्रभाव = समस्या = पीड़ा। अस्तित्व में प्रत्येक एक अपने "त्व" सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार है। इस धरती पर पदार्थावस्था मृद मृदत्व के साथ, सभी धातुएं धातुत्व के साथ, पाषाण पाषाणत्व के साथ, मणियां मणित्व के साथ व्यवस्था हैं। यह समग्र व्यवस्था के साथ भागीदारी है।

हर वस्तु का स्वयं में व्यवस्था होना, उसके परस्परता में सह- अस्तित्व सहित वर्तमान होने से है। यही समग्र व्यवस्था में भागीदारी का सूत्र है। वर्तमान, निरंतरता के अर्थ में है। अ.व. (229-230)

अस्तित्व ही सह-अस्तित्व है। सह-अस्तित्व ही नित्य प्रभावी प्रकटनशील है। अस्तित्व में जो कुछ भी है- यह सब 'वस्तु' के रूप में है क्योंकि इनमें वास्तवकिताएँ नित्य प्रमाणित हैं। अस्तित्व में व्यापक और एक-एक के रूप में अनन्त इकाईयाँ वर्तमान में होना दिखाई पड़ती है। जिसका दृष्टा मानव ही है। अस्तित्व में जो वस्तुएँ है, जितनी भी है इन्हीं वस्तुओं का नामकरण करना मानव का अधिकार सहज क्रियाकलाप है। जैसा- 'मिट्टी' एक नाम है। मिट्टी नाम से इंगित वस्तु अस्तित्व में है ही। यह (मिट्टी) स्वयं में केवल नाम न होते हुए भी "वस्तु" के रूप में वर्तमान है।

इसी प्रकार हर नाम से इंगित वस्तु अस्तित्व में होना वर्तमान है। व्यापक वस्तु में ही सम्पूर्ण एक-एक भीगा-डूबा और घिरा हुआ होने के आधार पर व्यापक वस्तु को सत्ता नाम दिया है।

पहले से भी कुछ नाम है - वह है अध्यात्म। व्यापक वस्तु को पूर्व में सार्थक रूप में समझना-समझाना बन नहीं पाया था। अभी इस व्यापक वस्तु को हर मानव समझ पाना संभव हो गया है। एक-एक के रूप में जो वस्तुएँ है, (प्रकृति) इन्हें परस्परता में देखने के पहले ही व्यापक वस्तु दिखता ही है। ज. व. (96-98)

व्यापक वस्तु को इस तरीके से समझना संभव हो गया है, कि हर परस्परता के बीच निश्चित दूरियां होती ही है। इस दूरी की परिकल्पना और अनुभव होता है। यही व्यापक वस्तु है क्योकि हर परस्परता के बीच दूरी के रूप में दिखाई पड़ने वाली वस्तु सभी परस्परता में एक ही है। जैसे दो आदमियों की परस्परता में, दो जानवरो की परस्परता में, दो झाड़ो की परस्परता में, से दो प्राण कोषाओं की परस्परता में दो अणुओं की परस्परता में, दो परमाणु अंशो की परस्परता में, दो ग्रह गोलो की परस्परता में, अनेक ग्रह गोलो की परस्परता में, आकाश गंगाओं की परस्परता में यही व्यापक वस्तु समझ में आती है।

व्यापक का मतलब सर्वत्र एक सी विद्यमानता है।

ऐसी व्यापक वस्तु अपने में पारगामी, पारदर्शी के वैभव सम्पन्न है, क्योंकि परस्परता में एक दूसरे को पहचानना संभव है ही। इसी प्रकार सभी इकाइयों में पारगामी होना हर वस्तु ऊर्जा सम्पन्न होना क्रियाशीलता के रूप में प्रमाणित है, इसीलिए व्यापक वस्तु का नाम साम्य ऊर्जा भी है, ऊर्जा सम्पन्नता का फलन है बल सम्पन्नता और क्रियाशीलता

अस्तित्व नित्य वर्तमान है

अस्तित्व:- सत्य में पूर्णतया इंगित होने, तृप्त होने, गतिशील होने और नित्य निश्चित होने के रूप में हम प्रत्येक मानव को अस्तित्व में, से, के लिए देख सकते हैं। अस्तित्व न घटता है, न बढ़ता है इसलिए अस्तित्व स्थिर है यह दिखाई पड़ता हैं। अस्तित्व नित्य वर्तमान है, इसीलिए, अस्तित्व निरंतर स्थिर है यह दिखाई पड़ता हैं। अस्तित्व स्वयं किसी के लिए बाधा नहीं हैं और अस्तित्व पर किसी की बाधा अथवा हस्तक्षेप भी नहीं हैं। अस्तित्व निरंतर सामरस्य है, समाधान है, इसीलिए अस्तित्व ही परम सत्य है।

सत्ता:- अस्तित्व में सत्ता व्यापक रूप में हर किसी को दिखती हैं। दिखने का मतलब समझ में आने से हैं। अस्तु, प्रत्येक मानव में, से, के लिए सत्ता व्यापक रूप में विद्यमान है। यह दिखता है। जैसे एक दूसरे के बीच में जो कुछ भी शून्य दिखाई पड़ता है वह मूलत: व्यापक सत्ता ही है। भौतिक -रासायनिक वस्तुएँ और जीवन जैसी वस्तु (वास्तविकता) सत्ता में संपृक्त है। इसीलिए प्रत्येक एक सत्ता में घिरा और डूबा हुआ दिखाई पड़ता हैं ऐसा दिखने के आधार पर ही एक दूसरे की दूरी की कल्पना मानव करता हैं और दिखाई पड़ता है।

जैसे सूर्य से धरती की दूरी दिखती हैं। यह धरती तथा ऐसे ही प्रत्येक धरती सत्ता में डूबा, घिरा और भीगा हुआ है। डूबा, घिरा दिखना स्वयं एक दूसरे के बीच में जो वस्तु है- इसी को देखना हुआ, यही सत्ता है। यही व्यापक वस्तु है।

रासायनिक, भौतिक वस्तुएँ ठोस, तरल और विरल रुपों में विद्यमान हैं। विरल अवस्था में भी प्रत्येक अणु अथवा सम्मिलित एक से अधिक अणु "एक" के रूप में ख्यात हैं। इसी भांति परमाणु में निहित अंशों में, उन अंशों को यदि विखण्डित किया जाये तो प्रत्येक खंड "एक" ही कहलाएगा। यह क्रिया व्यवहार रूप में तो होती नहीं तथापि मानव की कल्पना सहज वैभव को गणित के रूप में पहचाना गया है।

गणित विधि से मूलत: मानव की कल्पनाशीलता विधि से, विखंडन की परिकल्पना है। इस विधि से भी, परमाणु में निहित एक अंश को, अनेकानेक खंडों में विभक्त करने के पश्चात भी प्रत्येक खंड "एक" ही कहलाता है।

इस प्रकार किसी का तिरोभाव (नाश) नहीं हो सकता। इस सत्य के खिलाफ मानव की कल्पनाशीलता प्रादुर्भाव और तिरोभाव (नाश) के चक्कर में पड़कर अथवा भ्रम में ग्रसित होकर परेशान ही हुई है। अस्तित्व में कोई ऐसी चीज नहीं है, जो पैदा होती हो अथवा जो हैं वह मिट जाता हो; यह दोनों क्रियाएँ अस्तित्व में नहीं हैं। इसी भ्रमपूर्ण कल्पनावश मानव परेशान रहा हैं। इससे यह भी समझ में आता है कि "जो था, वही होता है; जैसे अस्तित्व में पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था थी"।

इसकी गवाही इस धरती पर स्पष्ट हैं। इसका दृष्टा मानव ही हैं। इस ज्वलंत उदाहरण से "जो था वही होता है, और जो था नहीं वह होता नहीं।"

इस मुद्दे पर बुद्धिजीवी अपने विवेक का प्रयोग कर सकते हैं। इस धरती के पहले किस धरती पर ये चारों अवस्थायें कहाँ थी, यह पूछ सकते हैं। इसमें दो दोष ऐसा आता है - देश और काल। अस्तित्व सहज वैभव में अर्थात् अस्तित्व सहज नित्य वर्तमान रुपी वैभव में देश और काल हस्तक्षेप नहीं कर पाते। जैसे किसी देश स्थान में चारों अवस्था रहते ही हैं। काल- हर समय हर वर्तमान में रहता ही है।

अस्तित्व नित्य वर्तमान है। भूत और भविष्य क्रिया के रचना, विरचना गति के साथ है।

वर्तमान की अक्षुण्णता को अथवा निरंतरता को किसी और विधि से प्रयोग करना संभव नहीं हैं। जो कुछ भी विधियाँ हैं, वे सब अस्तित्व सहज है। उन सबकी निरंतरता है। किसी भी एक और विधि को देश, काल में सीमित नहीं किया जा सकता। जब कभी भी कोई बात सीमित होती हैं, वह निषेध ही है। अद्भुत बात यह है कि अस्तित्व में निषेध नहीं है। निषेध का स्थान नहीं है, निषेध का गति नहीं हैं, निषेध का स्थिति नहीं है। भ व (96-101)

अस्तित्व का नाश नही है

अस्तित्व ही व्यापक, अनन्त, अमर, रचना-विरचना के रूप में वर्तमान है। रचना विरचनाएँ परिणामों के रूप में विद्यमान है ही। रचना की अवधि में जो द्रव्य वस्तुएँ दिखाई पड़ती है, विरचना के अनन्तर भी उतने ही वस्तु अस्तित्व में होते ही है। जैसे इस पत्थर को कूट-कूटकर अनन्त टुकड़े में बाँटने के उपरान्त भी मूलतः पत्थर के रूप में जितने भी द्रव्य वस्तुएँ है, वे सब पत्थर के रूप में पाया जाता है। इसी प्रकार एक झाड़ अपने रचना रूप में जितने द्रव्य वस्तुओं से वैभवित रहता है उसे अनेक रूप में बांटने के उपरान्त भी यथा उसको कूट-पीसकर, सुखाकर, जला करके और कुछ भी करके देखने के उपरान्त भी तरल, विरल, ठोस के रूप में अथवा विरल और ठोस के रूप में सभी पदार्थ यथावत् विद्यमान रहते हैं।

तीसरे विधि से एक जीव, एक मानव शरीर रचना में कितने भी द्रव्य और वस्तुएँ समाहित, संयोजित और वैभवित रहते हैं, उसे जलाने, गलाने, कुछ भी विधि से अनेक, अनंत टुकड़े में बांटने के उपरान्त रचना के दौरान जितने द्रव्य वस्तुएँ रहती हैं वे सब उतने ही रहते हैं।

यही मुख्य रूप में रचना-विरचना के रूप में देखने की विधि है। इसे सम्पूर्ण, व्यक्ति देखता ही है या देख सकता है। रचना-विरचना स्वयं इस बात का द्योतक है। कोई रचना अमर नहीं है जबकि वह रचना मूल में जिस वस्तु, पदार्थ से बना है (परमाणु) वे वस्तु के रूप में बने रहते है। अस्तु, मूल वस्तु का नाश होता है। परमाणु जिन अंशों से बने है, यह अब सदा सदा बने ही रहते हैं। वस्तु का परिवर्तन नहीं होता। यह ध्वनि अपने आप से निष्पन्न होती है।

यह स्मरण में रखने योग्य तथ्य है कि सम्पूर्ण रचना-विरचनाएँ, किन्हीं ग्रह-गोल पर ही होना पाया जाता है।

ऐसा सभी ग्रह-गोल जिस पर रचनाएँ होते है वह सदा-सदा ही पदार्थ, प्राण, जीव और ज्ञानावस्था मानव से संपन्न होना पाया जाता है। इस धरती पर इसका साक्ष्य सम्पन्न हो चुका है। विचारने और निष्कर्ष पाने का बिन्दु है कि यह धरती भी एक रचना है और इस धरती में सम्पूर्ण रचनाएँ है। जैसे पहले चारों अवस्थाएँ कही गई है। इस धरती में जीता जागता चारों अवस्थाएँ विद्यमान है। इन चारों में ये अर्थ दृश्यमान होते हुए धरती विरचित होते हुए देखने को नहीं मिलता है और इन चारों अवस्थाओं के होते धरती अपने दृढ़ता को बनाए रखता हुआ मानव को देखने को मिला है।

इससे यह पता चलता है और प्रमाणित होता है कि भौतिक-रासायनिक रचना-विरचनाएँ धरती के ऊपरी सतह पर होते हुए धरती अपने वैभव को बनाए रखने में क्षमता सम्पन्न है। दूसरे क्रम में यह धरती अपने आप में व्यवस्था होते हुए समग्र व्यवस्था में भागीदारी करता हुआ दृष्टव्य है।

जैसा यह धरती अपने चारों अवस्था सहित एक व्यवस्था के रूप में है ही इसी के साथ-साथ एक सौर व्यूह में भागीदारी निर्वाह करता है। यह भी हर जागृत मानव को स्पष्ट रूप में ज्ञात है। हर सौर व्यूह अनेक सौर व्यूहों के साथ व्यवस्था में भागीदारी को निर्वाह करने के क्रम में अनन्त सौर व्यूह, अनन्त ग्रह-गोल मानव सहज कल्पना में आता ही है। असंख्य रूप में अर्थात् मानव गिन नहीं सकता है इतना संख्या में ग्रह गोल असीम ऊर्जा में आकाश में दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार यह

धरती अपने में चारों अवस्थाओं से समृद्ध होना स्पष्ट है और मानव जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में इस धरती पर है। शरीर परंपरा स्थापित हो चुकी है। जीवन अस्तित्व में है ही। स.श. (63-65)

1.2 अस्तित्व में चार अवस्था

अस्तित्व में चार अवस्था - पदार्थ, प्राण, जीव, ज्ञानावस्था (मानव)

जो जैसा है वह उसकी वास्तविकता है। इस प्रकार अस्तित्व में निम्नलिखित वस्तुएँ हैं -

1. व्यापक रूप में नित्य वर्तमान "सत्ता" एक अखण्ड वस्तु है क्योंकि इसकी वास्तविकता, पारदर्शीयता, पारगामीयता, व्यापकता दृष्टव्य है। पारदर्शिता का तात्पर्य प्रकृति व्यापक वस्तु में प्रकाशमान है, प्रतिबिंबित है, परस्परता में पहचानता है, निर्वाह करता है। परगामीयता का तात्पर्य प्रकृति होने और न होने से स्थली में वर्तमान। व्यापक वस्तु, जड़ चैतन्य प्रकृति में 'पारगामी' है, प्रकृति के 'आर पार' है।
2. सत्ता में संपृक्त जड़ व चैतन्य-प्रकृति, वस्तुओं (वास्तविकता) के रूप में नित्य वर्तमान है।
3. सत्ता में संपृक्त जड़-चैतन्य-प्रकृति में से जड़-प्रकृति रासायनिक-भौतिक रचना-विरचना में कार्यरत नित्य वर्तमान है। जो पदार्थावस्था और प्राणावस्था के रूप में गण्य है। पदार्थावस्था का स्वरुप और कार्य विभिन्न प्रकार के परमाणु और उनसे बनी रचनाऐं हैं। प्राणावस्था का प्रधान स्वरुप और कार्य प्राणकोषा और ऐसी कोषाओं से रचित रचनाऐं हैं। प्राणावस्था सभी अन्न, वनस्पतियों, जीव शरीरों और मानव शरीरों के रूप में दृष्टव्य है।
4. सत्ता में सम्पृक्त जड़-चैतन्य प्रकृति में से चैतन्य-प्रकृति "गठनर्पूण परमाणु" है। जिसका परिणाम के अमरत्व सहित, "जीवन पद" में संक्रमित रहना पाया जाता है। (गठन पूर्ण परमाणु = जीवन परमाणु = चैतन्य = ऐसा परमाणु, जिसमें अंशों की संख्या का घटना बढ़ना संभव नहीं है = 'तृप्त परमाणु')

वक्तव्य:-

1. अध्ययन करने की संपूर्ण वस्तु सह-अस्तित्व ही है।
2. अध्ययन करने वाली वस्तु मानव है।
3. प्रत्येक मानव जड़-चैतन्य-प्रकृति के संयुक्त साकार रूप में है। चैतन्य-प्रकृति का नाम जीवन है। जड़-प्रकृति का नाम शरीर है।

अस्तित्व एवं अस्तित्व में परमाणु का विकास

अस्तित्व को अनादि काल से मानव स्पष्ट और प्रमाण रूप में समझने का प्रयास करता रहा है। इसी क्रम में अधिभौतिकवादी विचारों के अनुसार चेतना से पदार्थ की उत्पत्ति होती हैं ऐसा माना जाता है। भौतिकवादी विचारों के अनुसार पदार्थ से चेतना निष्पन्न होती है। ये दोनों विचारधारायें अपने-अपने समर्थन के लिए अनेकानेक तर्कों, अभ्यासों और प्रयोगों को प्रस्तावित करते रहे। अभी तक न तो किसी ने चेतना से पदार्थ को पैदा होते हुए देखा तथा न ही पदार्थ से चेतना पैदा होते हुए देखने को मिला। यही देखने को मिलता हैं कि चेतना व पदार्थ अविभाज्य वर्तमान है।

इसके मूल रूप को देखने से पता चलता हैं कि सत्ता (चेतना) में सम्पृक्त प्रकृति (पदार्थ) ही अस्तित्व सर्वस्व है। यहाँ देखने का तात्पर्य समझने से है।

व्यापक सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति (जड़ एवं चैतन्य) अविभाज्य वर्तमान होने के कारण अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व के रूप में नित्य प्रकाशित है। इस तथ्य को हृदयंगम (समझना, स्वीकारना) करने पर स्पष्ट हो जाता हैं कि चेतना और पदार्थ में नित्य सामरस्यता त्रिकालाबाध (तीनों काल – बूट, भविष्य, वर्तमान) सत्य है। सत्ता अरूप हैं, व्यापक है और सत्ता में प्रकृति अविभाज्य है। ऐसा कोई स्थान ही नहीं जहाँ सत्ता न हो, इसलिए प्रकृति का सत्ता में होना स्वाभाविक है।

सत्ता को साम्य ऊर्जा, शून्य, ज्ञान, चेतना, व्यापक, नित्य, ईश्वर और निरपेक्ष ऊर्जा के नाम से भी जाना जाता है।

सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति अनन्त इकाईयों के रूप में है। प्रत्येक इकाई सत्ता में सम्पृक्त होने के कारण सत्ता में घिरी हुई, डूबी हुई और भीगी हुई है। सत्ता व्यापक रूपी किसी लंबाई चौड़ाई में सीमित नहीं है, इसका कोई मापदण्ड नहीं बन पाता, इसलिए सत्ता "व्यापक" है। प्रकृति रूप में जितनी भी इकाईयाँ है उन सबकी गणना नहीं हो पाती इसलिए वे अनंत हैं इस प्रकार अस्तित्व स्वयं व्यापक और अनन्त है। सत्ता 'अरूपात्मक' और सत्ता में प्रकृत्ति 'रूपात्मक' अस्तित्व है। अस्तित्व का तात्पर्य "होने" से और "अविनाशिता" से है। सत्ता गति और दबाव विहीन स्थिति में है। जबकि सत्ता में ही सम्पूर्ण प्रकृति गति और दबाव सहित विद्यमान है।

दबाव अर्थात् वातावरणवश (परस्परतावश) आकर्षण विकर्षण के लिए बाध्यता। सत्ता अरूपात्मक होने के कारण आयामों में सीमित नहीं हैं जबकि सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति अनन्त इकाईयों का समूह है। साथ ही प्रत्येक इकाई आयामों सहित छ: ओर से सीमित है।

अस्तित्व सह-अस्तित्व होने के कारण पूरकता और पहचान नित्य सिद्ध होती है। जो है, वह निरंतर रहता ही हैं और जो था नहीं वह होता नहीं। इसी कारणवश अस्तित्व जैसा है, वह अनन्त काल तक वैसा रहेगा ही। इसी सत्यतावश सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति की प्रत्येक इकाई अस्तित्व में परस्परता को पहचानने के रूप में व्यवहृत है, क्योंकि प्रत्येक इकाई में रूप, गुण, स्वभाव और धर्म अविभाज्य वर्तमान है।

सत्ता में प्रकृति सम्पृक्त होने के कारण प्रत्येक इकाई अस्तित्व धर्म सहित होता है, इसका साक्षी ही है किसी इकाई का नाश न होना। जो कुछ भी होता हैं वह केवल परिवर्तन और विकास ही है। प्रत्येक इकाई के चार आयाम है, जिसे आगे चर्चा किया जाएगया। धर्म का तात्पर्य जिससे जिसका विलगीकरण न हो। अस्तित्व स्वयं सह-अस्तित्व होने के कारण यही परम धर्म का रूप है। परम धर्म (अस्तित्व) प्रत्येक इकाई में अभाव है, इसलिए यह सार्वभौम और शाश्वत है।

रूपात्मक अस्तित्व :-

प्रकृति की मूल इकाई परमाणु है। क्योंकि परमाणु में ही विकास होता है। (विकास क्रम= परमाणु अंशों को गठन गठन संख्या में वृद्धि, परिवर्तन; परमाणु में विकास = तृप्त परमाणु = गठनपूर्ण परमाणु = चैतन्य इकाई = जीवन)। परमाणु में प्रत्येक परमाणु गठनपूर्वक परमाणु हैं। प्रत्येक गठन में एक से अधिक परमाणु अंशों का होना अनिवार्य है। परमाणु के पूर्व रूप (परमाणुअंश) में विकास होता नहीं है। परमाणु के पररुप (अणु) रचनाएँ विकास की लाक्षणिकता को प्रकाशित करते हैं, परन्तु विकास नहीं होता है, क्योंकि विकसित इकाई अर्थात् जीवन शरीर रचना के माध्यम से प्रकाशित और सम्प्रेषित होता है।

विकास के क्रम में ही प्रकृति दो वर्ग व चार अवस्थाओं में प्रकाशमान है। प्रकृति के दो वर्ग जड़ और चैतन्य है। प्रकृति की चार अवस्थाएँ पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था है।

अस्तित्व में प्रकृति सहज सम्पूर्ण वैविध्यताएँ विकासक्रम में प्रकाशित है। यह एक अनवरत क्रिया है। अस्तित्व में विकास क्रम शाश्वत प्रणाली है, क्योंकि अस्तित्व स्वयं सह-अस्तित्व होने के कारण परस्पर प्रकृति के आदान-प्रदान एक स्वाभाविक क्रिया है। आदान प्रदान अपनी दोनों स्थितियों में स्वयं व्याख्यायित है। आदान-प्रदान के अनन्तर तुष्टि अथवा स्वभावगति का होना पाया जाता है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस इकाई में आदान होता हैं उसके उपरान्त स्वभाव गति होती ही हैं, साथ ही प्रदान जिससे होता है, उसके उपरान्त उसमें भी स्वभाव गति होती हैं। इस विधि से सह-अस्तित्व प्रमाणित होता है।

'त्व' सहित व्यवस्था (स्वयं में व्यवस्था) समग्र व्यवस्था में भागीदारी

प्रकृति में वैविध्यता है। वैविध्यता का मूल रूप पदार्थ में अथवा प्रकृति में अनेक स्थितियाँ हैं। प्रकृति में अनेक स्थितियाँ विकास के क्रम में है। अस्तित्व स्वयं सह-अस्तित्व होने के कारण प्रकृति की प्रत्येक इकाई की परस्परता में सह-अस्तित्व का सूत्र समाया है। (क्योंकि प्रकृति की अनन्त इकाईयाँ परस्परता में आदान-प्रदान रत है।) सह-अस्तित्व ही पूरकता का सूत्र व स्वरुप हैं। पूरकता विकास के अर्थ में सार्थक होती हैं।

अस्तित्व में विकास एक अनवरत स्थिति है। विकास के क्रम में अनेक पद और स्थितियाँ अस्तित्व में देखने को मिलती है।

प्रकृति, पदार्थ के नाम से भी जाना जाता है। पदार्थ का तात्पर्य है कि पदभेद से अर्थभेद को प्रकाशित कर सके अथवा पदभेद से अर्थभेद को प्रकाशित करने वाली वस्तुओं से है। वस्तु का तात्पर्य वास्तविकताओं को प्रकाशित करने योग्य क्षमता सम्पन्नता से है। इस प्रकार प्रकृति में वस्तु और पदार्थ की अवधारणा स्पष्ट हो जाती है। विकासक्रम और विकास ही अस्तित्व में विविधता के रूप में दिखाई पड़ता है। यही स्थिति अध्ययन की मूल वस्तु सिद्ध हो जाती है। अध्ययन करने की क्षमता केवल मानव में ही पायी जाती है।

मानव भी अस्तित्व से अभिन्न अथवा अविभाज्य इकाई है। अध्ययन के लिए अस्तित्व से अधिक कोई वस्तु या आधार नहीं है। इसीलिए अस्तित्व में यथार्थता, वास्तविकता और सत्यता के अध्ययन क्रम में निर्भ्रमता होती है। भ.व. (36-49)

रसायन द्रव्य के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वे तरल, विरल, ठोस रूप में है। रसायन द्रव्य विभिन्न अणुओं के संयोग से बनने वाली वस्तु हैं। अणुओं के मूल में परमाणुओं का होना पाया जाता हैं। प्रत्येक परमाणु अपने "त्व" सहित व्यवस्था सहज रूप में है। इसके आधार पर परमाणुओं के संयोग से अणु और विभिन्न अणुओं के संयोग से भी व्यवस्था स्पष्ट हो जाती है। व्यवस्था जड़-चैतन्य प्रकृति में वर्तमान सहज आचरण हैं।

यही आचरण सह-अस्तित्व सहज क्रम में समग्र व्यवस्था में भागीदारी है इसी क्रम में रासायनिक द्रव्य व प्राण कोषाओं से रचित रचनाएँ सब अपनी-अपनी परंपरा सहज विधि से आचरणशील हैं ही।

प्रत्येक इकाई का स्वयं में व्यवस्था होने का आचरण, वर्तमान में अक्षुण्णता (निरन्तरता) के रूप में देखने को मिलता हैं, जैसे लोहे का परमाणु-अणु "लौहत्व" के साथ वर्तमानित रहना पाया जाता हैं। इसकी अक्षुण्णता (निरन्तरता) प्रमाणित है। एक प्राण कोषा और उनसे रचित रचना अपने-अपने "त्व" सहित व्यवस्था के रूप में प्रमाणित हैं। ऐसी प्राण कोषाएँ रचना सूत्र संपन्न रहते हैं। विधिवत् रचना के लिए निश्चित सूत्र रहते ही हैं। प्राण कोषा में ही उस-उस प्रजाति के अनंत प्राण कोषाओं में भी, प्राण सूत्र के आधार पर ही रचनाएँ निश्चित होना पाया जाता हैं। यही "त्व" सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी का साक्ष्य हैं।

प्राण सूत्र सहित प्रत्येक कोषा अपने "त्व" सहित व्यवस्था रुपी कोषा हैं।

फलस्वरुप किसी एक रचना रुपी सम्मिलित प्रकाशन समग्रता है। ऐसी समग्रता में प्रत्येक प्राण कोषा का भागीदार होना स्पष्ट हैं। इसलिए प्रत्येक प्राण कोषा समग्र व्यवस्था में भागीदार है। प्राण कोषा अपने में व्यवस्था होने के स्वरुप में बीज-वृक्ष नियम सम्पन्न रहता है। यही प्राण कोषाओं में "त्व" सहित व्यवस्था का प्रमाण है। वनस्पति, जीव और मनुष्य शरीर के साथ यही रचना सूत्र सम्पन्न होते हैं।

प्राण सूत्र विधि से, बीज-वृक्ष नियम विधि (बीज के आधार पर वृक्ष की रचना, वृक्ष से पुनः आवर्तनशीलता) से प्राणावस्था की सभी रचनाएँ स्पष्ट हैं।

प्रत्येक रचना अपने में एक सम्पूर्ण रचना होते हुए अनेकानेक रचनाओं के साथ सह-अस्तित्वशील (पूरक) रहना देखने को मिलता हैं। जैसे आम, नीम आदि अनेक प्रजाति के वृक्ष, पौधे-लता आदि सभी एक दूसरे के साथ, बीज-वृक्ष नियम सहित निश्चित आकार व आचरण को प्रकाशित करते हुए देखने को मिलता हैं। इसी क्रम में जीवावस्था, समृद्ध मेधस युक्त शरीर और जीवन का संयुक्त साकार रूप होते हुए भी जीवन, शरीर को तादात्म्य विधि (स्वयं को शरीर मना रहता है) से स्वीकारा रहता हैं।

इसका सूत्र हैं – जीवन (चैतन्य इकाई) , शरीर को जीवन्त बनाये रखते हुए शरीर को ही अपना जीने की स्थली स्वरुप स्वीकारता है।

इसलिए जीवन शक्तियाँ उन-उन शरीर रचना को अनुरुप बह पाती है। इसी यथार्थता के आधार पर अनेकानेक प्रजाति के जीवों का वर्तमान होना स्पष्ट है। ये सब वर्तमान में ही हैं। प्रत्येक प्रजाति के जीव अपने ढंग से, अपनी परंपरा को बनाये रखते हुए देखने को मिलता हैं। प्रत्येक जीव अपने में व्यवस्था होने के कारण अपनी प्रजाति के जीव कोटि के साथ सम्मिलित होता हैं। इसी के साथ किसी एक प्रजाति के जीव अनेकानेक प्रजाति के जीव के साथ जीता हुआ भी देखने को मिलता हैं।

इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि एक प्रजाति की सम्पूर्ण वनस्पतियाँ अन्य प्रजाति की वनस्पतियों के साथ वर्तमान होना देखने को मिला। और एक प्रजाति के जीवों का दूसरी प्रजाति के जीवों के साथ जीना देखने को मिला।

ये सभी क्रियाकलाप स्वाभाविक रूप में नियम, नियंत्रण, संतुलन विधियों (नियम = निश्चित आचरण। नियंत्रण = आचरण की निरन्तरता, जैसे पेड़ के पत्ते की बाद होने की एक सीमा है। संतुलन = उपयोगिता, पूरकता, जैसे जीवों में शाकाहार-मांसाहार में संतुलन, निश्चित अनुपात है।) से संपन्न होते आए। पदार्थावस्था में परिणाम क्रियाकलाप रुपी परंपरा में नियंत्रित रहना स्वाभाविक वर्तमान हैं। प्राणावस्था में संपूर्ण रचनाएँ बीजानुषंगीय विधि (बीज के अनुसार चलना) से नियंत्रित रहना तथा संतुलित रहना प्रमाणित है, पीपल की पत्ती, झाड़ तथा जड़, उसी प्रकार अन्य झाड़ पौधे-लता आदि का अपने-अपने तरीके के पत्र-पुष्प, फल, बीज तथा जड़ होना पाया जाता हैं। ये सब रचना कार्य में नियंत्रण का द्योतक हैं।

नियंत्रण में नियम समाया रहता हैं, क्योंकि नियम पूर्वक ही रासायनिक योग और वैभव होना पाया जाता हैं।

प्रत्येक रासायनिक प्रक्रिया में, एक से अधिक प्रजाति के अणुओं का संयोग होना देखा गया है। ये अणु निश्चित मात्रा व नियम से ही संयोगों में आते हैं। फलत: रासायनिक वैभव स्पष्ट होता हैं। मूलत: पदार्थावस्था में परमाणु व अणु नियमित रहना पाया जाता हैं। प्राणावस्था में इस नियम के आधार पर ही नियंत्रण प्रकाशित हुआ। यह नियंत्रण बीज से वृक्ष तथा वृक्ष से बीज तक आवर्तनशीलता के रूप में स्पष्ट हो गया है। अस्तित्व में ऐसी कोई चीज नहीं है जो नियंत्रित न हो अथवा नियमित न हो।

इसलिए नियमित रहना और नियंत्रित रहना अणु-परमाणु की स्थितियों में भी देखने को मिलता हैं। यही नियम-नियंत्रण के रूप में प्राणावस्था की रचनाओं में आवर्तनशील विधि से स्पष्ट हो गया है।

प्राणावस्था में रचनाएँ नियंत्रण की साक्षी हैं। जबकि जीवावस्था और ज्ञानावस्था की शरीर रचनाओं में अंग अवयवों का संतुलन आवश्यक रहता ही है। इसलिए जीव शरीरों और मानव शरीर की रचनाओं में नियंत्रण और नियम समाहित रहता ही हैं। इस क्रम में प्रत्येक एक का अपने "त्व" सहित व्यवस्था के रूप में वैभवित होना पाया जाता है। जीवावस्था और ज्ञानावस्था की शरीर रचनाएँ वंशानुगत विधि से सफलता का प्रकाशन करती हैं। वंशों की महत्वपूर्ण भूमिका आकारों और ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रिय कार्यों के आधार पर निश्चित होना पाया जाता हैं।

आकार, आयतन कार्य के तालमेल के लिए उस-उसके अंग-अवयवों की रचना निश्चित अनुपाती होना पाया जाता है। इनका कार्य संतुलन, जीवन सहज आशा, मेधस क्रिया के आधार पर संपन्न होना पाया जाता हैं।

प्रत्येक जीव का आचरण अपने-अपने शरीर सहज रूप में व्याख्यायित रहता हैं। ऐसी व्याख्या के आधार पर ही प्रत्येक प्रजाति के जीव अपनी मौलिकता (मूल्य) की व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी के अर्थ में सार्थक बनते हुए देखने को मिलता है। जीवों में प्रत्येक अंग-अवयवों का अपना-अपना आकार वंश की प्रधान पहचान है। (जैसे बाघ का शरीर वंश के अनुसार, घोड़े का शरीर रचना उसके वंश के अनुसार)। इस पहचान के साथ उसका कार्य जीवन के संयोग से ही संपन्न होता हुआ समझ में आता हैं।

जीवन, जीव शरीरों में, आशा का प्रसारण करता हुआ देखने को मिलता हैं। प्रत्येक जीव जीने की आशा से ही जीता हुआ मिलता हैं।

ज्ञानावस्था सहज मानव जीवन में आशा, विचार, इच्छा, ऋतम्भरा और प्रमाण जैसे शक्तियों का क्रियाकलाप समझने को मिलता हैं। इसे समझने वाला भी मानव ही हैं। इस शक्तियों की चर्चा आगे अध्यायों में किया गया है। मानव के "दृष्टा पद" में होने का प्रमाण जीवन और शरीर संयुक्त रूप में सिद्ध होता हैं। "दृष्टा पद" – मानव ही अस्तित्व को तथा स्वयं को जानता है, स्वयं तथा अस्तित्व का दृष्टा, अर्थात् देखने वा रहता है। समझने के क्रम में ही अज्ञात को ज्ञात एवम् अप्राप्त को प्राप्त करने के कार्यकलापों को मानव ही सहज रूप में संपन्न किया करता हैं।

दृश्य के रूप में अस्तित्व ही नित्य वर्तमान हैं। अस्तित्व में चारों अवस्थाएँ अपने में एक अनुपम अभिव्यक्ति हैं।

जीवों का कार्यकलाप उन के प्रजाति वंश के अनुसार निश्चित कार्य रूप में रहता हैं। यही संतुलन का तात्पर्य है। मानव अस्तित्व में दृष्टा पद में होते हुए भी अभी तक मानव का कार्यकलाप अनिश्चित है। मानव शरीर भी अवयवों के संतुलित रूप में ही प्रकाशित हैं। इस प्रकार प्राण कोषाओं से सभी वनस्पतियाँ जीव और मानव शरीर की रचनाएँ होते हुए समझ में आती हैं। जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में जीने वाले जीव एवम् मानव शरीर में 'सप्त धातुएँ ' देखने को मिलती हैं। सप्त धातुओं के सर्वोच्च संतुलित रचना मानव शरीर ही हैं।

स्वेदज (जैसे कीड़े मकोड़े, जोंक) व असमृद्ध मेधस युक्त रचनाओं को जीवन चलाता नहीं हैं अथवा वे चलाने योग्य नहीं होतें। उनमें सप्त धातुएँ देखने को नहीं मिलती हैं। वे रचनाएँ प्राण कोषाओं से ही रचित रहती हैं।

झाड़ व पौधे सभी प्राण कोषाओं की ही रचना होते हुए इनमें सप्त धातु नहीं होते। इन्हीं सब प्रमाणों के साथ जीवन और शरीर का संयोग उसी शरीर से संयोगित हो पाता हैं, जिस शरीर की संरचना में सप्त धातुएँ अंग अवयवों के संतुलन के अर्थ से रचित रहते हैं तथा समृद्ध मेधस व समृद्धिपूर्ण मेधस की रचना संपन्न होती हैं। ऐसे ही शरीर को जीवन संचालित करता हुआ देखने को मिलता हैं। इस क्रम में जो भी प्राण कोषाएँ देखने को मिलती है, वे सब विधिवत् रासायनिक वैभव के रूप में दिखते हैं। इसके साथ कृत्रिमता नहीं हो पाती। जो कुछ भी कृत्रिमता (मानवकृत) का आकार दे पाना मानव से बन जाता हैं वह सब पदार्थावस्था सहज वस्तुओं के रूप में ही देखने को मिलता हैं।

रासायनिक क्रिया प्राकृतिक ही होती हैं, कृत्रिम होती नहीं हैं इसलिए प्राण कोषाएँ प्राकृतिक ही होती हैं, कृत्रिम नहीं होती है। प्राण कोषाओं से रचित रचनायें स्वाभाविक रूप में प्राकृतिक है, कृत्रिम नहीं।

प्रकृति का तात्पर्य - पहले से ही क्रिया के रूप में रहता हैं। इसी का नाम प्रकृति है। पहले से जो क्रिया और वस्तु, गति और स्थिति रहते आया, वैसी क्रिया को घटाना (घटित करना) प्राकृतिक ही हुआ। मनुष्य प्रकृति सहज कई घटनाओं को स्वयं भी घटा सकता है। इसलिए इसे कृत्रिमता का नाम देना चाहते हैं। वह इसलिए सार्थक नहीं हो पाता है कि वह पहले से ही बना रहता है। ऐसा अभी प्राण कोषाओं के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। इसी के साथ जीवन (चैतन्य) को कृत्रिम प्रक्रिया से घटित किया नहीं जा सकता।

जीवन जब कभी भी घटित होगा, वह परमाणु ही गठनपूर्णता पूर्वक ही प्रमाणित हो पाता है।

परमाणु में गठन एक प्रकृति सहज प्रक्रिया है। ऐसे गठन में पूर्णता का होना उसी परमाणु में निश्चित क्रिया का परिणाम घटना है। इसलिए मनुष्य द्वारा जीवन को घटाना (याने जीवन बनाना) संभव नहीं है और आवश्यक भी नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य द्वारा प्राण कोषाओं को घटाना (घटित कराना) संभव नहीं है और आवश्यक भी नहीं है। वर्तमान में पाए जाने वाले शरीर और जीवन के क्रियाकलाप के साथ-साथ मनुष्य का जागृत होना ही एकमात्र लक्ष्य बनता है। कृत्रिम कोषा और कृत्रिम जीवन को बनाने का कोई प्रयोजन नहीं बनता है। इसलिए आवश्यकता भी नहीं बन पाता है और इसीलिए अवसर भी सिद्ध नहीं होता।

चारों अवस्थाओं में रूप, गुण, स्वभाव धर्म

व्यापक वस्तु में प्रकृति (इकाई समूह) रूप, गुण, स्वभाव, धर्म सम्पन्न है और अविभाज्य है। प्रत्येक इकाई के चार आयाम है। (रूप = आकार, आयतन, घन; गुण = परस्परता में प्रभाव, सापेक्ष शाक्तियाँ; स्वभाव = मौलिकता = प्रयोजन = अर्थ; धर्म = धारणा = होना = जिसका जिससे विलगिकरण ना हो वही उसका धर्म)। (रूप और गुण परिवर्तनशील है जबकि स्वभाव धर्म शाश्वत है। गुण परस्परता के अनुसार बदलता है। स्वभाव = इकाई का उसके अवस्था में भागीदारी। धर्म और स्वभाव स्थिति में है। गुण और रूप गति में है = स्वयं में व्यवस्था, समग्र व्यवस्था में भागीदारी) (रूप, गुण, स्वभाव, धर्म इकाई से अविभाज है) प्रत्येक इकाई का अपने अवस्था अनुसार स्वभाव- धर्म निश्चित है, जो बदलता नहीं। जबकि गुण, जाती प्रजाति के अनुसार है तथा रूप प्रत्येक इकाई के साथ हैं) भ. व. (294-300)

धर्म

अस्तित्व में चारों अवस्थाएँ, सत्ता में संपृक्त वर्तमान है। चारों अवस्थाएँ सत्ता में अविभाज्य हैं। इसीलिए "अस्तित्व" अथवा होना ही संपूर्ण वस्तु का मूल धर्म है। **पदार्थावस्था** का धर्म ही अस्तित्व, स्वभाव संगठन-विघटन क्रिया हैं। **प्राणावस्था** में अस्तित्व सहित पुष्टि धर्म; सारक-मारक स्वभाव है। **जीवावस्था** में अस्तित्व, पुष्टि सहित आशा धर्म है। अस्तित्व, पुष्टि शरीर में देखा जाता है। आशा धर्म को जीवन में ही देखा जाता है। इस प्रकार जीवावस्था में जीवन और शरीर का संयुक्त रूप में प्रकाशित होना स्पष्ट है। जीवावस्था में स्वभाव क्रूर और अक्रूर रूप में हैं। **ज्ञानावस्था** में अस्तित्व, पुष्टि, आशा सहित सुख धर्म होना पाया जाता है। अस्तित्व, पुष्टि मानव शरीर में दिखता है, सार्थक होता है। जीवन में संस्कार और सुख सार्थक होना आवश्यक है।

स्वभाव

स्वभाव जागृति क्रम में अमानवीय, जागृति पूर्वक मानवीय और जागृति पूर्णता के रूप में अतिमानवीय होना पाया जाता है। यह अमानवीयता की स्थिति में दीनता, हीनता, क्रूरता के रूप में दिखता हैं और जागृति स्थिति में धीरता, वीरता, उदारता के रूप में दिखता है। जागृति पूर्ण स्थिति में दया, कृपा, करुणा के रूप में स्वभाव दिखता है। अमानवीय स्वभाव ही दुखी होना; मानवीय स्वभाव ही सुखी होना और अतिमानवीयता का स्वभाव ही आनंद होना स्पष्ट है। इस प्रकार अस्तित्व में संपूर्ण वस्तुओं का मौलिक तत्व सहज रूप में जान पहचान सकते हैं, फलत: निर्वाह कर सकते हैं। संपूर्ण पहचान मौलिकता और मूल्यांकन ही है।

अस्तित्व सहज रूप में देखने पर पता चलता है कि पदार्थावस्था में स्वभाव संगठन-विघटन के रूप में कार्यरत है।

हर इकाई का विघटित होने के उपरान्त संगठन की संभावनाओं को इस प्रकार देखा जा सकता हैं कि हर परमाणु-अणुएँ संगठन में भागीदारी निर्वाह करने के प्रयास में ही रहते हैं। फलत: परमाणु के रूप में सभी (परमाणु) अंश प्रतिष्ठा पाते हैं। हर अंश अपने को संगठन प्रतिष्ठा में पाकर ही व्यवस्था में भागीदार होना प्रमाणित कर पाता है। इस प्रकार पदार्थावस्था में हर वस्तु को संगठन के आधार पर ही अथवा एक परमाणु में निहित अंशों की संख्या के आधार पर ही उस परमाणु की प्रजाति, मात्रा और कार्य को पहचान पा रहे हैं और वह स्वयं व्यक्त होता हुआ दिखाई पड़ता है। अस्तु, पदार्थावस्था में गठन के आधार पर, वह भी संगठन के आधार पर मौलिकताएँ प्रमाणित है।

प्रकृति सहज चार अवस्थाएँ (परस्पर पृथक)

अवस्था	आकार रूप = आयतन घन	क्रिया	स्वभाव	धर्म	अनुषंगी (प्रवृत्ति)
1. पदार्थावस्था	मिट्टी, धातु मणि, पत्थर	रचना–विरचना	संगठन–विघटन	अस्तित्व	परिणामानुषंगी प्रवृत्ति
2. प्राणावस्था	पेड़-पौधे लता, गुल्म	श्वसन–प्रश्वसन	सारक–मारक	अस्तित्व सहित पुष्टि	बीजानुषंगी
3. जीवावस्था	पशु–पक्षी	वंश केन्द्रित	क्रूर–अक्रूर	अस्तित्व, पुष्टि सहित जीने की आशा	वंशानुषंगी प्रवृत्ति
4. ज्ञानावस्था	मनुष्य	समझदारी केंद्रित आहार, विहार कार्य–व्यवहार	धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करूणा	अस्तित्व पुष्टि जीने की आशा सहित सुख	संस्कारानुषंगी (समझदारी के अनुसार प्रवृत्ति)

प्राणावस्था में मौलिकता को रचना विधि के आधार पर सारक - मारक स्वभाव को पहचाना जाता है या वनस्पतियाँ सारक - मारक विधि से अपने स्वभाव को व्यक्त करते रहता है। यह भी प्राण कोषाओं के स्वभाव क्रिया का ही प्रकाशन हैं। कुछ प्राण कोषाएँ कुछ तत्वों को पचाती है और कुछ कोषाएँ अन्य तत्वों को पचा लेता है। इस प्रकार मूलत: प्राण कोषाओं में निहित रस तत्व ही सारक-मारक रूप में प्रकाशित होता है। सारकता का तात्पर्य अधिकतर मानव और जीव शरीर के लिए अनुकूल तत्व हैं। मारकता है- मानव शरीर और जीव शरीरों के लिए प्रतिकूलता।

जैसे- जिस रासायनिक द्रव्य को हम जहर कहते हैं, उसे पचाकर रखे हुए वनस्पति होते हैं। उसे जहरीली वनस्पति भी कहते हैं और ऐसी वनस्पतियों को पहचाना भी गया है।

इसी प्रकार खनिज में भी विषों को पहचाना गया है। इसी क्रम में जीवों एवं स्वेदजों में भी विष संचय करने वाले जीवों व स्वेदजों को पहचाना जाता है। जैसे- कुत्ता, साँप, बिच्छू आदि। जबकि ये सब अपने रूप में जीव, स्वेदज, वनस्पति और खनिज कहलाता है। इस प्रकार वे सब मारक वस्तुएँ है। विशेषकर मानव शरीर के लिए अर्थात् शरीर संरक्षण-पोषण के लिए अनुकूल होता हो उसका नाम है सारक, इसके विपरीत (शरीर संरक्षण-पोषण के लिए विपरीत)होता है वे सब मारक है। इसी आधार पर वनस्पतियों में मौलिकता को पहचाना जाता है। वनस्पतियाँ अपने स्वभाव में संपन्न रहती है।

जीवावस्था में स्वभावों को क्रूर-अक्रूर रूप में पहचाना जाता है। क्रूरता "पर-पीड़ा" के रूप में स्पष्ट हुई हैं।

जीव जो दूसरे जीवों को पीड़ित करते है अथवा मांसाहार करते हैं, उन्हें क्रूर जीव कहते हैं। क्रूरता का कुछ जीवों में होना देखा जाता है। कुछ जीवों में कभी क्रूरता और कभी अक्रूरता भी देखने को मिलती है। जीवों में आहार विधि अथवा भयभीत विधि से पर-पीड़ा कृत्य संपन्न होते हुए देखने को मिलता है। कुत्ते-बिल्ली में यही प्रवृत्ति देखने को मिलती है। ऐसे भयभीत विधि से हर जीव कहीं न कहीं पर-पीड़ा करता हुआ देखने को मिलता है। इस प्रकार भयवश पर-पीड़ा स्पष्ट होता है। "आहार के लिए" पर-पीड़ा बाघ, शेर जैसे जीवों में स्पष्ट है।

अस्तित्व में कम से कम दो अंशों का परमाणु गठन का संभावना रहता ही हैं।

अस्तित्व में सभी अवस्थाओं में उन-उनकी परंपरा अक्षुण्ण (निरंतर) रहती ही हैं। पदार्थावस्था से न्यूनतम अवस्था (परमाणुओं का ना होना जैसे सूर्य) में कोई धरती होती नहीं है। पदार्थावस्था सहज धरती में ही चारों अवस्थाएँ प्रमाणित हो जाती हैं। हर अवस्था में परंपराएँ अपने अपने सिद्धांत से व्यवस्थित हैं ही। **मानव को ही अभी तक अपनी मौलिक परंपरा को पहचानना शेष है।**

"अस्तित्व में प्रकटन"- विकास क्रम, वियकस, जागृतिक्रम, जागृति

पदार्थावस्था में समृद्ध धरती ही प्राणावस्था में उदात्तीकृत (आगे की स्थिति में परिवर्तन) होती हैं। फलस्वरुप धरती पर हरियाली आरंभ होती हैं। क्रम से धरती समृद्ध होती हैं। पदार्थावस्था, प्राणावस्था के बीच रासायनिक प्रक्रियाएँ अपने-आप वैभवित रहती हैं। इस वैभव का मूल बिन्दु पदार्थावस्था अपने में समृद्ध होने की अभिव्यक्ति है। अस्तित्व सहज संपूर्ण अभिव्यक्ति का स्वरुप सत्ता में संपृक्त पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था ही हैं। यह किसी गवाही के आधार पर हैं, किसी प्रमाण के आधार पर है कि धरती पर चारों अवस्थाएँ स्वयंस्फूर्त प्रमाणित हो चुकी हैं।

इसमें मानव का कोई हाथ, योगदान नही रहा, इसी आधार पर यह स्पष्ट है कि प्रत्येक धरती में ये अवस्थाएँ प्रमाणित होने के क्रम में विकास नित्य प्रभावी है।

इसमें बनाने का, बनने का, बनाने वाले का कोई संयोग दिखाई नहीं पड़ता। क्योंकि सह-अस्तित्व विधि से अस्तित्व स्वयं स्फूर्त है। व्यापक सत्ता में संपूर्ण प्रकृति का संपृक्त रहना ही अस्तित्व सहज अभिव्यक्ति का क्रम, प्रक्रिया, परिणाम, स्थिति और गति हैं। इन तथ्यों से बनाने- बिगाड़ने जैसी कोई वस्तु हो, ऐसा कुछ नहीं है। अस्तित्व में बनाने वाला, बिगाड़ने वाला कोई वस्तु नही है, स्वयं स्फूर्त प्रकटन है। सह-अस्तित्व ही स्वयं व्यक्त सहज वस्तु है। इसी क्रम में प्रकृति में विकास व जागृति नित्य संभावना के रूप में समीचीन रहता है। यह इस प्रकार से दिखता है कि पदार्थावस्था जब समृद्ध होती हैं, तब प्राणावस्था में उदात्तीकृत होना एक कार्य, एक घटना, एक वैभव दिखाई पड़ता हैं।

जब प्राणावस्था अपने में समृद्ध हो जाता है, वैसे ही जीवावस्था का उपक्रम, स्वेदज विधि से आरंभ होता है।

स्वेदज संसार में पाए जाने वाले कुछ वस्तुओं अथवा जीवों में यह प्रक्रिया देखी गई हैं कि वह अंडज परंपरा के रूप में परिवर्तित हो गई। जैसे- बिच्छू स्वाभाविक रूप में स्वेदज निर्मित ही है। यह अंडज प्रणाली को व्यक्त कर देता है इसी प्रकार और भी संभावनाएँ बनी है। अंडज परंपरा (जैसे मुर्गी, बदक) ही क्रम में पिंडज परंपरा (जैसे हाथी, बाघ) में विकसित होकर अथवा समृद्ध होकर जीव शरीर, मानव शरीर रचना संपन्न होता हुआ वर्तमान में देखने को मिल रहा है। जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में जीवावस्था है, मानव है। जीवन चैतन्य प्रकृति है तथा शरीर जड़ प्रकृति है।

मानव परंपरा में शरीर का पोषण-संरक्षण एक कार्य गति हैं, जिसके लिए आहार एक अनिवार्य तत्व हैं। जबकि जीवन के लिए समाधान अथवा सर्वतोमुखी समाधान, प्रामाणिकता सह-अस्तित्व ही जागृति का प्रमाण है।

जीवन जागृति के क्रम में हैं। शरीर पोषण और संरक्षण क्रम को, जीवन ही स्वीकारा रहता हैं। जीवन ही भ्रमवश पोषण-संरक्षण को अपना सम्पूर्ण कार्य मान लेता है। शरीर को जीवंतता प्रदान करने के आधार पर शरीर को ही जीवन समझने लगता है; यही मुख्य रूप में फँसने, भ्रमित होने का मुद्दा है। इस धरती में अभी तक, भ्रमित रहने की घटनाओं को उन उन आयामों के इतिहास के आधार पर पहले से स्पष्ट किया जा चुका है। शरीर को ही जीवन, जैसा सभी जीव स्वीकारे रहते हैं और उनके कर्म करने और फल भोगने के क्रम में यांत्रिक होने के कारण संपूर्ण जीवों का नियंत्रित रहना पाया जा रहा है।

(जीव = कर्म करते समय परतंत्र फल भोगते समय परतंत्र, भ्रमित मानव = (जीव चेतना) कर्म करते समय स्वतंत्र फल भोगते समय परतंत्र, जागृत मानव (मानव चेतना)= कर्म करते समय स्वतंत्र फल भोगते समय स्वतंत्र)।

वहीं मानव अपने में कर्म करते समय में स्वंतत्र हैं, फलस्वरुप स्वस्फूर्त विधि से नियंत्रित, व्यवस्थित रहने की आवश्यकता तथा अवसर रहते हुए अभी तक वह नियंत्रित नहीं हो पाया। कल्पना शीलता, कर्मस्वतंत्रता जैसी अद्भुत महिमा का मूल्यांकन नहीं हो पाया। कर्म स्वतंत्रता वश जीवन सहज शक्तियों आशा, विचार, इच्छाओं को आदि काल से मानव भ्रमवश दुरुपयोग करते आया। फलस्वरुप इस बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक तक इसके सदुपयोग विधि को शिक्षा में, प्रयोजन विधि को पहचाना नहीं गया। व्यवहार शास्त्र में इसकी सदुपयोग विधि पहचानने में नहीं आई, संविधानों में इसकी संरक्षण विधि समझ में नहीं आई, मूल्यांकन में विधि समझ में नहीं आई।

इन्हीं गवाहियों के आधार पर मानव परम्परा भ्रमित रहना स्पष्ट है। हर मोड़, मुद्दे पर विश्वासघात से ही दुकानें सजीं। इसकी भी गवाही वर्तमान ही हैं।

जैसे राजगद्दियाँ, धर्म गद्दियाँ आश्वासन देते है, व्यापारवाद जैसा आश्वासन देता है, वैसा व्यवहार में प्रमाणित होना अभी भी प्रतीक्षित रह गया है। इससे यह पता लगता है कि आदि मानव से अभी तक जो कुछ भी अंतरण हुआ, वह वस्तुओं की संग्रह सुविधा विधि और उसकी तादाद की सीमा में ही आज भी मानव मूल्यांकित हैं। सर्वाधिक संख्या में सभी मानव इसी संग्रह सुविधा के चौखट में दिखाई पड़ते हैं। कोई कोई अपवाद रूप ही इससे छूटे हो सकते हैं। और भी एक स्मरण आवश्यक हैं कि आदि काल से मानवों में छोटे-छोटे समुदाय परंपरा होना पाया जाता है, जिसमें अधिकतर अविश्वास रहा है।

किसी देश काल में विश्वास व्यक्त करने वाले कुछ संख्या में मिलेंगे और सर्वाधिक संख्या में क्षणिक विश्वास के आधार पर सांस लेते हुए आदमी को देखा जा सकता है। इस प्रकार वर्तमान में विश्वास संपन्न व्यक्तिन्यूनतम हैं। अधिकतम वर्तमान में प्रताड़ित व्यक्ति हैं।

इसको इन स्वरुपों में जाँचा जा सकता है :-

1. आदि मानव जैसा अभी भी अविश्वास पनप रहा है।
2. आदि मानव से अभी विश्वास अधिक हो रहा है?
3. आदि मानव से अभी अविश्वास बढ़ गया है?

इन बातों में बहुत ज्यादा पीछे न पड़ते हुए अवश्यमेव इस निश्चय पर आते हैं कि हम अभी जैसे मानव जाति में हैं, इन सभी परम्पराओं में भ्रम सर्वाधिक रूप में ही हैं। मानव में समाहित अमानवीयता का भय है ही एवम् इससे छूटना ही, हमारा प्रधान उद्देश्य है। अस्तु, विकल्प की आवश्यक रही आई। विकल्पात्मक आधार अस्तित्व ही हैं, जिसका प्रतिपादन हुआ हैं। अस्तित्व ही सह-अस्तित्व के रूप में विकास रूप स्पष्ट हैं। यही व्यवस्था अथवा नित्य व्यवस्था के रूप में समझ में आया हैं।

अब यह स्पष्ट हो गया कि विकल्पात्मक आधार सह-अस्तित्व है। इस आधार पर चिंतन करने वाला, समझने वाला, जीने वाला, प्रमाणित करने वाला मानव है। **इसीलिए इसका नाम अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन है।**

इस प्रकार हम इस जगह पर आते हैं कि सभी व्यक्ति मानवत्व सहित व्यवस्था है और व्यवस्था में भागीदार होने का अधिकार अक्षय शक्ति, अक्षय बल संपन्नता के रूप में सभी व्यक्तियों में देखने को मिलता है। इसी आधार पर हर व्यक्ति जागृत होने योग्य है। इसके लिए अनुकूल और सफलात्मक विधि से विकल्पात्मक जीवन ज्ञान (स्वयं को समझना), अस्तित्व दर्शन ज्ञान (सम्पूर्ण अस्तित्व, जो कुछ है उसे समझना), मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान (मानवीयता पूर्ण जीना समझना) के आधार पर विधिवत् विचारधारा एवम् समझदारी को संजोना एक आवश्यकता रहा है। इसी आधार पर "समाधानात्मक भौतिकवाद" मानव के सम्मुख प्रस्तुत हुआ। इस प्रकार सबको जागृत होने का अधिकार है। दूसरी तरफ विकल्पात्मक दर्शन और ज्ञान, सह-अस्तित्व पर आधारित है। उल्लेखनीय बात यहाँ यह है कि :-

1. सह-अस्तित्व में मानव अविभाज्य वर्तमान है।

2. अस्तित्व में मानव दृष्टा (देखने - समझने वाला) है।

इन आधारों पर अथवा इस नजरिये के आधार पर देखने की स्थिति में "मानव का मौलिक तर्क" भी पहचान सकते हैं। प्रयोजन सम्मत विश्लेषण, विश्लेषण सम्मत प्रयोजन, दूसरे तरीके से विवेक सम्मत विज्ञान व विज्ञान सम्मत विवेक ही मानव सहज मौलिक तर्क है। भ. व. (185 – 200)

मानव आचरण निश्चित होने की आवश्यता

सम्पूर्ण अभिव्यक्ति, सत्ता में संपृक्त प्रकृति के रूप में नित्य वर्तमान है। वर्तमान, त्रिकालाबाध सत्य है। व्यापक रूपी सत्ता में संपृक्त प्रकृति में ही जीवन है और जीवन में ही जागृति प्रमाणित होता है। यह एक सहज कार्य के रूप में प्रमाणित हो चुका है। इस धरती पर मानव, शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में प्रकाशमान है और अभिव्यक्ति शील हैं। **विकास क्रम** में संपूर्ण वनस्पति जगत प्राणावस्था के रूप में व्यक्त हैं। यह भौतिक वस्तु की महिमा हैं, यह समझ में आ चुका है।

विकास, परमाणु में होना देखा गया है। ऐसे परमाणुओं में, से चैतन्य पद में संक्रमित होने के उपरान्त ही 'जीवन' है।

यह 'जीवन' अपनी महिमा को **जीवनी क्रम** में संपूर्ण जीवों के रूप में दिखता है। **जागृति क्रम** में मानव भी जागृति पूर्वक एक अभिव्यक्ति है। इस प्रकार सत्ता में संपृक्त प्रकृति चार अवस्थाओं में व्यक्त है। इसका नामकरण पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था है। भ. व. (71-74)

प्रत्येक इकाई में जैसा पहले कहा गया-गाय, घोड़ा आदि में उन के स्वभाव को कम से कम उन-उन रचनाओं को शरीर आयु पर्यन्त स्थिर रखने के क्रम में ही वंशानुषंगीयता (वंश के अनुसार) स्पष्ट होती गयी। यह एक विलक्षण स्थिति सम्मुख होती हैं कि इस धरती पर मानव के अतिरिक्त सभी रचनाओं (अवस्थाओं) यथा पदार्थावस्था, प्राणावस्था एवं जीवावस्था में देखने पर पता चलता हैं कि लोहा जब तक रहता है तब तक उसके त्व में अर्थात् "लोहत्व" में वैपरीत्यता नहीं होती। उसी भाँति आम, बाघ, भालू, गाय आदि में भी वैविध्यता नहीं होती। (लोहा, नीम, चांदी, इन सभी का आचरण है, देश काल में निश्चित है)

जबकि मानव को देखें तो पता चलता है कि इसके विपरीत अर्थात् मानवत्व के विपरीत स्थिति में अधिकतम व्यक्ति प्रकाशित है।

एक ही मानब अलग अलग समय पर विभिन्न आचरण प्रकाशित करता हुआ दिखता है। तात्पर्य यह कि मानव ही इस धरती पर ऐसी एक इकाई है जो मानवत्व के विपरीत कार्य, व्यवहार-विन्यास करते हुए भी अपने को श्रेष्ठ और विकसित होने का दावा करता है। जैसे अधिकतम शोषण एवं युद्ध में समर्थ व्यक्ति, परिवार, समाज अथवा राष्ट्र को विकसित समझा जा रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मानव अपने त्व (निश्चित आचरण) को वंशानुषंगीयता में खोजने के अरण्य में भटक गया है या मिटने की तैयारी में आ गया है।

मानव का वर्चस्व वंशानुषंगीयता में उज्जवल एवं अनुकरण होने की व्यवस्था होती तब क्या होता ? या तो वंशानुषंगीयता के समर्थक कहलाने वालों के अनुसार मानव के पूर्वज जैसे बन्दर थे वे मानव क्यों बन गये? बदल क्यों गये? या तो बदलना को विकास समझ लें। इसी प्रकार, पूर्व पीढ़ी का ज्ञान दूसरी पीढ़ी को बिना समझे व सीखे क्यों नहीं आता?

मानव को देखें तो पता चलता हैं कि मानव में वैविध्यता नहीं (मानव में एक ही जाति है, जबकि पेड़-पौधों से जीवों में अनेक जातियाँ है- शरीर के आधार पर) किन्तु इनमें वंशानुषंगीय अस्थिरता चरमावस्था में पहुँच गई। जैसे चोर का बेटा चोर हो ऐसा आवश्यक नहीं। विद्वान की संतान ने विद्वता का अनुकरण नहीं किया, जबकि मूर्ख की संतान विद्वान भी होती है। आश्चर्य की बात है कि मानव फिर भी स्वयं को वंशानुषंगीयता (वंश के अनुसार चलने वाला) का दावेदार, प्रणेता मान रहा है। यह कितनी दयनीय स्थिति है? जिन वंशानुषंगीयता के आधार पर प्रतिवर्ष ही अनेक निबंध, प्रबंध तैयार हो रहा हैं ये कहाँ तक मानवोपयोगी है?

मानव वंशानुषंगिया नहीं बल्कि संस्कारानुषंगिया (संस्कार के अनुसार चलने वाला) इकाई है।

भ्रमित अवस्था में मानव मान्यता, (कल्पना) से चालित है, तथा अजागृतिवश अमानवीय स्वभावों को व्यक्त करता है, जो निम्न प्रकार से हैं:-

दीनता - अपने दुख को दूसरों से दूर करने का प्रयास

हीनता - विश्वासघात, अपेक्षा से विपरीत आचरण

क्रूरता - परधन, परनारी / परपुरुष परपीड़ा

जबकि मानवीयता (मानवता) ही मानव स्वभाव है, जो निश्चित है, सार्वभौम है। यह जागृतिपूर्वक ही व्यक्त होता है:-

धीरता - न्याय के प्रति निष्ठा

वीरता - धीरता सहित दूसरों को न्याय सुलभ करने की प्रवृत्ति

उदारता - तन-मन-धन रूपी अर्थ का नियोजन

इस प्रकार धीरता, वीरता, उदारता मानवीय स्वभाव के रूप में देखने को मिलता है।

"अस्तित्व स्थिर है, जागृति निश्चित है"

पदार्थावस्था एक पद है, जिसमें परमाणुओं का तथा विभिन्न प्रजातियों के परमाणुओं के कार्य विन्यास को देखा जाता है जो भौतिक और रासायनिक रूप में परिगणित होते हैं। यही संपूर्ण पदार्थों की वैविध्यता के मूल में तथ्य हैं। संपूर्ण पदार्थों में सजातीय विजातीय परमाणुओं का योग (मिलन) होता है। ऐसे योग के मूल में प्रत्येक परमाणु में अपने आप में एक दूसरे से मिलने का अथवा जुड़ने का बल समाहित रहता हैं। ऐसे परमाणु में होने वाले गठन के मूल में भी यही तथ्य सिद्ध होता हैं। अरूपात्मक अस्तित्व (सत्ता, व्यापक) में रूपात्मक अस्तित्व (जड़ - चैतन्य प्रकृति) सम्पृक्त रहने के फलस्वरुप ही बल सम्पन्नता अभिव्यक्त है।

अस्तित्व स्वयं रूप-अरूप की अविभाज्य स्थिति होने के कारण इस बात का प्रमाण है कि सम्पूर्ण रूपात्मक अस्तित्व, अरूपात्मक अस्तित्व में घिरा हुआ दिखाई पड़ता है।

यह घिरा हुआ स्वयं प्रत्येक इकाई के नियंत्रण को स्पष्ट कर रहा है, क्योंकि प्रत्येक इकाई अर्थात् अणु-परमाणु और परमाणु में निहित अंश भी परस्पर निश्चित दूरी, जो अरूपात्मक अस्तित्व (व्यापक वस्तु) ही है, में नियन्त्रित रहते हैं। अर्थात् नियन्त्रण की अवस्था में प्रत्येक इकाई आवेश में नहीं होती है, यही स्वभाव गति है। आवेश में ह्रास होने की संभावना अपने आप समीचीन होती हैं। यही आवेश का साक्ष्य है। जड़-प्रकृति और चैतन्य-प्रकृति इस धरती पर गण्य होते हैं। जड़-प्रकृति में पदार्थावस्था प्राणावस्था गण्य है। चैतन्य-प्रकृति में जीवावस्था तथा ज्ञानावस्था गण्य है।

पदार्थावस्था में परमाणु की पहचान होती है। इन परमाणुओं की स्थिति ही स्वयं विकास की अभिव्यक्ति हैं।

इसी क्रम में परमाणु विकसित होकर अविकसित परणाणुओं को पहचानने की योग्यता से संपन्न होता हैं। ऐसे परमाणु चैतन्य पद में होते हैं। यही विकास की महिमा हैं। इसी क्रम में चैतन्य-प्रकृति अर्थात् गठनपूर्णता प्राप्त परमाणु (जीवन) में पाँचों शक्तियाँ और पाँचों बल अक्षय रूप में समाहित रहते हैं।(जीवन के शक्ति एवं बाल की चर्चा अगले अध्याय में किया गया है।) उसकी जागृति पूर्ण अभिव्यक्ति पर्यन्त गुणात्मक विकास के लिए चैतन्य इकाई प्रवर्त्त है। नियंत्रण जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति के लिए समान रूप में वर्तमान है। वर्तमान का तात्पर्य अस्तित्व सहित स्थिति और प्रभाव से हैं। अरूपात्मक अस्तित्व (व्यापक वस्तु) का प्रभाव नियन्त्रण के रूप में प्रत्येक इकाई में प्रभावशील होना ही साक्ष्य है। परमाणु गठनपूर्णता पर्यन्त एक दूसरे से मिलकर अणु और रचना के रूप में प्रकाशित है। (गठनशील परमाणु)| भ. व. (74- 76)

पदार्थ अवस्था से प्राणावस्था बिना दिग्भ्रम के विकसित हुई। जीवावस्था से ज्ञानावस्था के निर्भ्रम होने के क्रम में ही मानव अपने को भ्रमित पाता है। इसका संपूर्ण कारण शरीर को जीवन समझना ही हैं। अक्षय बल एवं अक्षय शक्ति संपन्न होने के कारण प्रत्येक मानव जीवन क्षमता की स्थिति में समान हैं। यह समानता हर स्तर में समन्वय होने पर्यन्त लक्ष्य विहीन होने के कारण विरोधाभासी प्रतीत होती हैं, तब विरोध का विरोध और विरोध के दमनकारी कार्यकलापों में प्रवृत्त हो जाता है। जबकि विरोध का विजय ही जागृति का साक्षी है। सम्पूर्ण विरोधाभास केवल अस्तित्व, अस्तित्व में विकास और जीवन के भूलाने का परिणाम है। अस्तु अस्तित्व स्थिर है, अस्तित्व में मानव का जागृत होना निश्चित है। भ. व. (87-92)

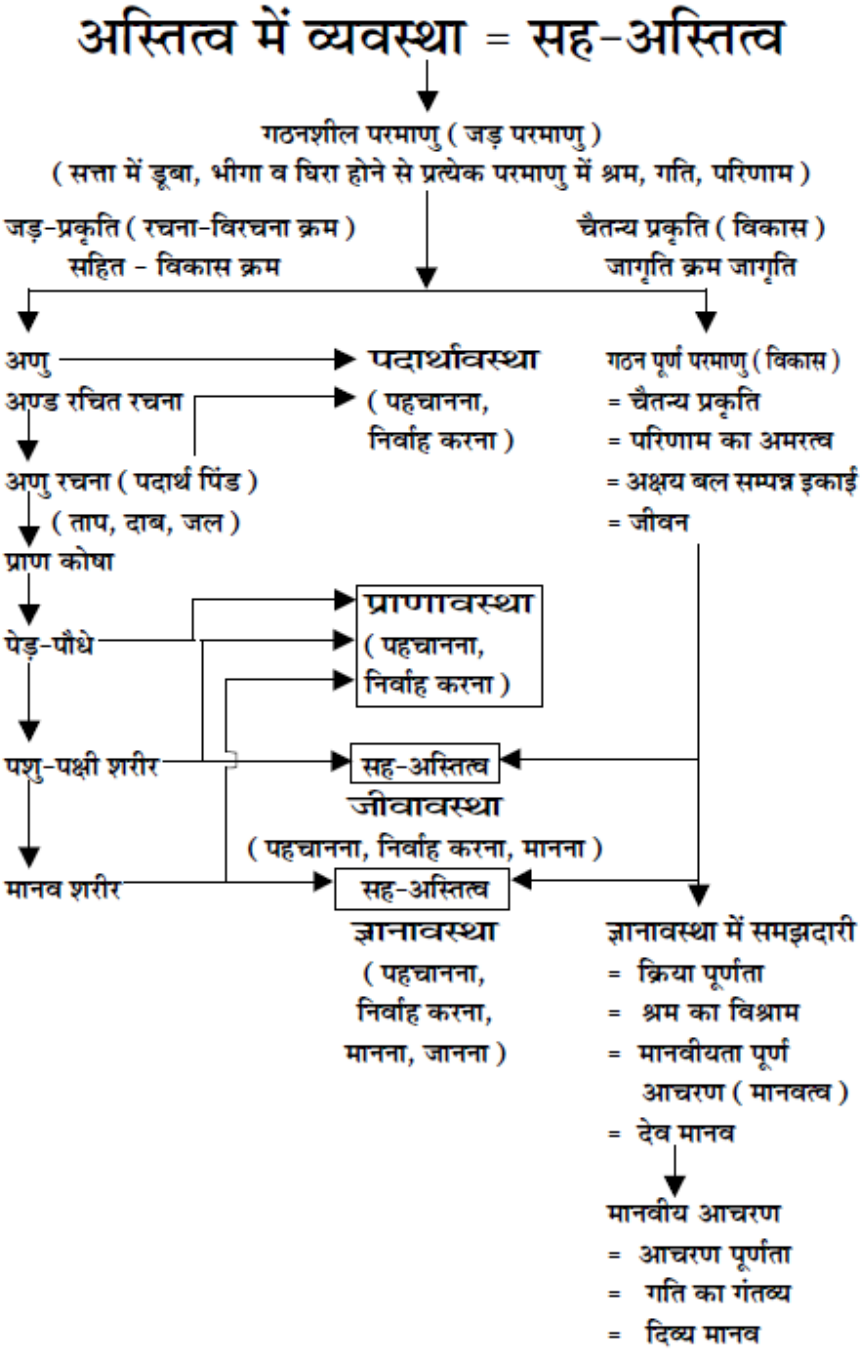
अस्तित्व में व्यवस्था = सह-अस्तित्व
गठनशील परमाणु (जड़ परमाणु)
(सत्ता में डूबा, भीगा व घिरा होने से प्रत्येक परमाणु में श्रम, गति, परिणाम)
जड़-प्रकृति (रचना-विरचना क्रम) सहित - विकास क्रम
चैतन्य प्रकृति (विकास) जागृति क्रम जागृति
अणु
अण्ड रचित रचना
अणु रचना (पदार्थ पिंड)
(ताप, दाब, जल)
प्राण कोषा
पदार्थावस्था
(पहचानना, निर्वाह करना)
गठन पूर्ण परमाणु (विकास)
= चैतन्य प्रकृति
= परिणाम का अमरत्व
= अक्षय बल सम्पन्न इकाई
= जीवन
पेड़-पौधे
पशु-पक्षी शरीर
मानव शरीर
प्राणावस्था
(पहचानना, निर्वाह करना)
सह-अस्तित्व
जीवावस्था
(पहचानना, निर्वाह करना, मानना)
सह-अस्तित्व
ज्ञानावस्था
(पहचानना, निर्वाह करना, मानना, जानना)
ज्ञानावस्था में समझदारी
= क्रिया पूर्णता
= श्रम का विश्राम
= मानवीयता पूर्ण आचरण (मानवत्व)
= देव मानव
मानवीय आचरण
= आचरण पूर्णता
= गति का गंतव्य
= दिव्य मानव

अध्याय 2 - मानव स्वयं में व्यवस्था

2.1 मानव परिभाषा

मानव मनाकर को साकार करने वाला, मन:स्वस्थता का आशावादी है। कल्पनाशीलता और कर्मस्वतंत्रता के माध्यम से मानव अलंकार, दूरश्रवण, दूरदर्शन, दूरगमन में हुई उपलब्धियां है। मनुष्यता का भाग सफल होना अभी प्रतीक्षित है। इसी अर्थ में यह प्रस्ताव है

हर मानव व्यवस्था चाहता है समझना चाहता है सुख चाहता है

इस अध्याय में जितने भी विश्लेषण हुए वह सब मानव जागृति के अर्थ में ही केंद्रित है। यह स्पष्ट रूप से सह-अस्तित्व सहज सभी अवस्थाएँ एक दूसरे की पूरक होना आवर्तनशीलता है। हर अवस्थाओं में पूरकता व्यवस्था को अक्षुण्ण (निरंतर) बनाए रखने के अर्थ में ही हर पद परंपराएं निरन्तर वैभवित होना सहज है। इसी विधि में मानव भी एक परंपरा है। वह अपनी परंपरा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए स्वयं स्फूर्त व्यवस्था को अपनाना ही होगा। स्वयं स्फूर्त व्यवस्था का ही दूसरा नामकरण जागृत परंपरा है। जागृति हर मानव की वांछित अपेक्षा है। जागृति, पूरकता और सह-अस्तित्व विधि से ही सम्पन्न हो पाता है।

इस धरती में सम्पूर्ण अवस्थाएँ अपने-अपने में और एक दूसरे के परस्परता में पूरकता विधि से पंरपरा सम्पन्न होना पाया जाता है। मूलत: परमाणु अंश एक दूसरे का पूरक होने के प्रमाण को निश्चित आचरण सम्पन्न परमाणु के रूप में स्पष्ट कर दिया है।

पूरकता स्वयं आवर्तनशीलता का तात्पर्य है। यही परस्पर पुष्टि भी है। मूलत: परस्पर पुष्ट होना ही सम्पूर्ण अस्तित्व में और जागृति में समानता इंगित होता है। अस्तित्व में परस्पर पुष्टि का साक्ष्य परमाणु अंशों से आरंभ होकर परमाणु के रूप में व्यवस्था की पुष्टि हो गई। परस्पर परमाणुओं, अणु और अणुरचित रचनाओं के रूप में व्यवस्था को प्रकाशित कर दिया है। यह तथ्य सभी जागृत मानव को विदित होता है। जो जागृत नहीं है वे सब जागृत होने के लिए इच्छुक हैं। इस प्रकार सच्चाई के प्रति हर व्यक्ति जागृत होना चाहता है। सच्चाईयाँ सबको स्वीकृत रहता ही है। यही सच्चाई की महिमा भी है। सच्चाई अपने परम रूप में सह-अस्तित्व ही है।

अस्तित्व में व्यवस्था के रूप में एक दूसरे के पूरक रूप में आवर्तनशीलता प्रमाणित होती है।

इसी क्रम में मानवेत्तर प्रकृति एक दूसरे के पूरक होना देखा जाता है। मानव के लिए मानवेत्तर प्रकृति पूरक होते हुए, मानव मानवेत्तर प्रकृति के साथ पूरक होने के लिए आवश्यकीय जागृति अभी भी प्रतीक्षित है। अपने में व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी के रूप में आवर्तनशील होना प्रमाणित होता है। मानव यह उद्देश्य अस्तित्व सहज होने के कारण से सहज उद्देश्य भी कहा जा सकता है। आवर्तनशील विधि से अंतर संगीत, बाह्य संगीत का अनुभव करना सहज है। दूसरे विधि से अन्तर समाधान-बाह्य समाधान का अनुभव किया जा सकता है। यह भी देखा गया है कि समाधान क्रम में ही सुखानुभव होना पाया जाता है।

सुख का प्रमाण ही है वर्तमान में विश्वास। वर्तमान में विश्वास होने का मूल तत्व ही है वर्तमान में व्यवस्था। व्यवस्था का मूल स्वरूप ही है हर वस्तु को अथवा हर-एक को जीने देना और जीना और वर्तमान में समृद्धि, समाधान, अभय, सह-अस्तित्व का प्रमाणीकरण करना। यही जागृतिपूर्वक प्रमाणित होने वाली विधि है। अ.श. (87-89)

उन्मादों, आवेशों में रहते, जितने भी मोटे आदमी हों, वह भय और शंकाओं से घिरा रहता है, इसलिए वह कमजोर होता ही हैं। आवेशों में कमोबेशी, आदमी में कोई ताकत रह नहीं जाती। समस्याओं से ग्रसित मानव कमजोर होता है। इसी भाँति लाभोन्माद, कामोन्माद, भोगोन्माद से ग्रस्त आदमी मानसिक रूप में कमजोर होता है तथा शरीर रूप में भी कमजोर होता है क्योंकि मानसिकता ही शरीर के द्वारा ताकत को प्रदर्शित करता है। इससे एक सहज निश्चय निकलता हैं कि "अमानवीयता मानव में, मानव से, मानव के लिए कमजोर स्थिति है।" भले ही वे राक्षस मानव, पशु मानव क्यों न हो पर वे अमानव तो हैं, इसलिए इन दोनों का मानवीयतापूर्ण मानव से कमजोर होना स्वाभाविक है।

क्योंकि मानव का स्वभाव (मौलिकता) धीरता, वीरता, उदारता है। वहीं अमानव का अर्थात पशु और राक्षस मानव का स्वभाव हीनता, दीनता, क्रूरता ही है।

मानव सहज मौलिकता कितनी सुदृढ़ है, यह हर एक व्यक्ति को समझ में आता है। इससे पता चलता है कि अमानवीयता की मुक्ति स्थली, स्वयं मानवीयतापूर्ण स्वभाव ही वैभव हैं। इसलिए अमानवीयता का, मानवीयता पूर्वक अथवा मानवीयता की विधि से परिवर्तन होना सहज हैं, क्योंकि अमानवीयता को कोई भी मानव (जो अमानवीय रहता है वह भी) नहीं स्वीकारता जबकि मानवीयता को हर व्यक्ति स्वीकारता हैं। मानवीयता के खोल में ही, अमानवीयता पनपती हुई देखने को मिल रही हैं।

ऐसा मजबूर होने का एक ही कारण है, परंपरा में मानवीयता का जीता जागता प्रमाण, बोध गम्य होने योग्य ज्ञान, दर्शन सुलभ न होना।

इसे ऐसा भी एक सर्वेक्षण किया जा सकता है कि किसी भी नशाखोर व्यक्ति से विधिवत् किसी मुद्दे पर ज्ञानार्जन, विवेकार्जन विधि से बात करें, तब हम यह पाएँगे कि नशा किया हुआ व्यक्ति भी नशा नहीं किया हुआ जैसा प्रस्तुत होना चाहता है। एक चोर, डाकू से विवेक और व्यवस्था संबंधी चर्चा कर देखें तो हम यही पाते हैं कि चोरी-डकैती करते हुए उसी के पक्ष में व्यवस्था व विवेक को उपयोग करते हुए नहीं मिलता है। अपितु, इसके विपरीत जो भी करते रहता हैं, किया रहता हैं उसी की निरर्थकता को बार-बार दोहराते रहता है।

इसी प्रकार लाभोन्मादी, कामोन्मादी व भोगन्मादियों से व्यवस्था और विवेक प्रयोजन विधि से विधिवत् चर्चा करके हम यह पाते हैं कि सभी उन्माद निरर्थक है।

इसी प्रकार आज के राजनेताओं से इस मुद्दे पर चर्चा करके देखें कि वोट, नोट, बँटवारा, संतुष्टि, असंतुष्टि कब तक चल सकती हैं? इससे स्वस्थ व्यवस्था मिल सकती हैं क्या? इस पर वे कहते हैं कि "सबकी संतुष्टि हो नहीं सकती, इस बीच में झेलते रहना ही राजनीति है।" इन सभी वर्गों के साथ बात करने पर उनकी यह स्वीकारोक्ति है कि उन-उन कार्यों की बड़ी मजबूरी रही हैं, लेकिन ये सारे "उचित काम" नहीं हैं। इन लोगों से पूछा गया कि ये ठीक नहीं है तो करते क्यों हो? इस पर वे कहते है कि "इसके अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं हैं।" इसी प्रकार युवा पीढ़ी से पूछा गया कि, "जो कुछ भी आप लोग कर रहे हैं, सोच रहे हैं- नशाखोरी, जमाखोरी, जिम्मेदारी-विहीन कार्य आदि क्या ये ठीक हैं? - ऐसा पूछने पर वे कहते हैं कि "ईमानदारी से रोटी नहीं मिलती।" जिम्मेदारी से बात या काम किये तो पिस जाते हैं।" ऐसी दो टूक बातें युवा पीढ़ी करती है। मानवीयता के बारे में जब उनसे पूछते हैं तो ये कहते हैं "यह तो जरुरी हैं।"

इस तरह इन तथ्यों के आधार पर यही समझ में आता है कि अन्याय, भ्रष्टाचार, दुराचार करने वाला व्यक्ति भी मानवीयता को एक आवश्यकता के रूप में स्वीकारता है। ऐसे भी बहुत से महत्वपूर्ण लोगों की बातें की गई।

इनमें धर्म गद्दी पर बैठे लोग भी रहे हैं, उनसे मानवीयता के संबंध में चर्चा की गई तो सभी ने मानवीयता को नकारना अनुचित बताया और मानवीयता की आवश्यकता बताई। उनकी भागादारी के बारे में पूछने पर वे कहते हैं कि "भागीदारी की बात तो हम कर नहीं सकते क्योंकि हमारा अभी तक किया हुआ, इस नजरिए से, बाकी सब वृथा लगने लगता हैं। इसलिए हम इसे (विकल्पतमक प्रस्ताव सहअस्तित्ववाद) नहीं ले जा सकते।" इत्यादि। यह भी देखने को मिला कि ख्याति प्राप्त साधु, संत, मुनि ये लोग अपने को उन सबसे अच्छा मान लेता हैं, यही कि वे मानवीयता से अपने को श्रेष्ठ मान लेते हैं।

उनके अनुसार मानवीयता सामान्य मनुष्य की कथा है, उनके अनुसार वे स्वयं अपने को मानवीयता से अधिक श्रेष्ठ मानकर, अपने संभाषणों को समाप्त करते हैं।

इसका मतलब यह हुआ कि साधु, सन्यासी, संत सभी मानवीयता की आवश्यकता से सहमत होते हैं। ये उस मानवीयता की मापदण्ड से भिन्न है- ऐसा समझ में आता है। लेकिन मानवता को सभी उचित ठहराते हैं। इस प्रकार सर्वाधिक लोगों को यह स्वीकृत है ही। इस विधि से मानवीयता का नाम सबको स्वीकृत है। मौलिकता भी सबको स्वीकृत है। मानवीय ज्ञान, जीवन ज्ञान है। जागृत मानव ही दृष्टा पद (देखने वाला, समझने वाला) में हैं। अस्तित्व ज्ञान सभी मानवों को संभव हैं- इन बातों को रुढ़िवादी, कट्टरपंथी लोग जल्दी नहीं स्वीकारते, किन्तु विरोध करना भी नहीं बन पाता। भ.व. (204-207)

उपरोक्त चर्चा से इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि सुंदर-समाधान प्रत्येक मानव शुभ, सुन्दर-समाधान सहज सह-अस्तित्व को अनुभव करना चाहता है। ऐसी अनुभूति के लिए अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चितंन अध्ययनार्थ प्रस्तुत है जिसके लिए हर मानव प्रतीक्षारत है। ऐसी अनुभूति ही सुख-शान्ति, संतोष और आनंद का स्वरूप है। म.वि. (156)

मानव एवं अन्य प्रकृति में मौलिक विशेषता यह है।

1) मानवीय परम्परा में जीवन अपनी जागृति को, शरीर द्वारा व्यक्त कर सकता है, करना चाहता है।
2) मानव ही कर्म स्वतंत्र - कल्पनाशील है।
3) भ्रमित रहते तक मानव ही कर्म करने में स्वतंत्र, फल भोगते समय परतंत्र है।
4) मानव ही मनाकार को साकार करने वाला, मनः स्वस्थता का आशावादी है।
5) मानव ही जागृति पूर्वक अपने स्वत्व स्वतंत्रता, अधिकारों को परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था और अखंड समाज रूपी सार्वभौम व्यवस्था के रूप में प्रमाणित करता है।

इन पांचों प्रकार से मौलिकताओं की सहजतावश, जागृति पूर्वक ही मानव का संतुलित, नियंत्रित, नियमित होना, स्वानुशासन, स्वयं व्यवस्था, व्यवस्था में भागीदारी, सम्बन्धों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह सहज उत्साह, स्वयं स्फूर्त उत्सव के रूप में आचरित होगा। ऐसा हर मानव होना चाहता है। म.वि. (124-125)

भ्रम – निर्भ्रम :- मानव द्वारा स्वयं को अध्ययन करना संभव है।

अब यह प्रश्न होता हैं कि निषेध शब्द है क्या? इसका सहज उत्तर यही हैं कि "यह भ्रमित मानस का प्रकाशन है।" यह भ्रमित कल्पना का प्रकाशन है और भ्रमित इच्छाओं का प्रकाशन हैं। इन चारों प्रकार से भ्रमित प्रकाशन का आधार केवल मानव ही हैं। अब यह भी प्रश्न हो सकता है कि मानव भ्रमित होता क्यों है? भ्रम में फंसता क्यों है? इसका उत्तर अस्तित्व सहज रूप में देखा गया हैं कि मानव एक ऐसी वस्तु (वास्तविकता) है, जिसमें मानवेतर प्रकृति से भिन्न मौलिक वर्चस्व सम्पन्नता सहज उत्सव जैसा - विधि एवं निषेध से नियंत्रित होना है।

इनमें से प्रथम- कर्म स्वतंत्रता है। दूसरा- कल्पनाशीलता है। तीसरा- कर्म करते समय में स्वतंत्र, फल भोगते समय में परतंत्र हैं। चौथा- अपनी परिभाषा में मनाकार को साकार करने वाला मन:स्वस्थता का आशावादी एवं प्रमाणित करने वाला है।

ये सब मौलिकताएँ प्रत्येक मानव में निरीक्षण, परीक्षण पूर्वक देखना सहज है। इन्हीं सब ऐश्वर्यों के चलते जागृति पूर्वक मानव ही अस्तित्व में दृष्टा है- यह मौलिकता भी मानव की झोली में रखी हुई है। ये सब रहते हुए भ्रमित होने का मूल तत्व यहीं हैं, सशक्त तत्व यही हैं-

1. अभी तक बनी हुई व्यक्तिवादी, समुदायवादी परंपराएँ है।

2. नैसर्गिकता है। (प्राकृतिक)

3. वातावरण है। (मानवकृत)

सम्पूर्ण अस्तित्व में प्रत्येक एक व्यापक में स्थित अनंत सहज वातावरण ही है। "नैसर्गिकता" धरती, हवा, पानी और हरियाली एवं जीवों के रूप में देखने को मिलती हैं। प्रत्येक मानव को संस्कार परंपरा से ही मिलते हैं। यह सब नित्य प्रमाण ही हैं। इन्हीं के आधार पर केवल मानव की देन रुपी शिक्षा-संस्कार से ही मानव का भ्रमित होना देखा जा रहा है। इस मोड़ पर बुद्धिजीवी कहलाने वाले यह भी पूछ सकते हैं कि भ्रम-निर्भ्रम की बात छेड़ने वाला आदमी भ्रमित नहीं है?

इस बात को पहचाना कैसे जाये? क्योंकि पहले जिस वातावरण, नैसर्गिकता और परंपरा की बात कही गई हैं उसी में से किसी परंपरा में यह आदमी (लेखक) भी है। इस प्रकार से प्रश्न होना मानव की कल्पनाशीलता सहज वैभव है।

भ्रम-निर्भ्रम प्रश्न का उत्तर अस्तित्व में दृष्टा (जागृत) व्यक्ति दे सकता है। इसीलिए इस व्यक्ति ने भ्रम-निर्भ्रम की बात उठाई है। सहज रूप में (लेखक ने) अस्तित्व में पढ़ लिया है, देख लिया है, समझ लिया है। यहाँ यह स्मरण रखने योग्य है कि भौतिक-रासायनिक वस्तुओं को जब अवस्था के रूप में अध्ययन करने के लिए - "समाधानात्मक भौतिकवाद" संकल्पित हो गया, तब यह विश्वास करने के लायक है कि जो-जो बातें कही गई हैं वे अध्ययन के लायक हैं। इनके लिए किन्हीं पूर्व ग्रंथों का उद्धरण नहीं हैं। इसलिए इन बातों का अध्ययन करके जो भी इसे समझना चाहे, इसे समझा जा सकता है तथा इन बातों पर विश्वास किया जा सकता हैं।

इस आधार पर यह जो कुछ भी प्रस्तुत है, वह मूलत: "अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिन्तन" है। यह बात पहले भी कही जा चुकी है। इसको पढ़ने वाला और अध्ययन करने वाला मानव ही होगा और हर मानव अस्तित्व में ही वर्तमान हैं।

इन सहज तथ्यों को स्वीकारना पर्याप्त हैं। भ्रम-निर्भ्रम मानव में, मानव से, मानव के लिए जागृति क्रम से स्पष्ट होता हैं। जो था, वही वर्तमान हैं। इन दोनों बातों के लिए पुष्टि प्रस्तुत की जा रही है। इस सहज तथ्य में मानव ही देखने समझने योग्य हैं। अस्तित्व स्वयं वर्तमान है और अस्तित्व में मानव अविभाज्य रूप में वर्तमान है। यही ध्रुव बिन्दु हैं, जहाँ निर्णय कर सकते हैं कि जो भी हैं, वही होता है। यही उत्तर पाने की स्थिति हैं। मानव के सम्मुख मानव सहित चारों अवस्थाओं में प्रकृति सत्ता में दिखती हैं। इन चारों अवस्थाओं की प्रकृति (पदार्थ, प्राण, जीव, ज्ञानावस्था) इस धरती में दिखती हैं।

यह धरती स्वयं एक सौरव्यूह के अंगभूत कार्यरत दिखाई पड़ती हैं। यह सौरव्यूह अनंत सौरव्यूहों के अंगभूत रूप में कार्यरत दिखाई पड़ता है। दिखने से तात्पर्य समझने से ही हैं।

समझने की क्षमता प्रत्येक मानव में जीवन सहज रूप में समाई हुई हैं। जीवन तात्विक रूप में गठनपूर्ण परमाणु है। यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। जीवन में ही आशा, विचार, इच्छा और संकल्प तथा प्रामाणिकता रुपी अक्षय शक्तियाँ कार्य करती हुई, प्रत्येक मानव में दिखाई पड़ती है जिसका अध्ययन किया जा सकता है। इसी प्रकार मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि, आत्मा रुपी अक्षय बल प्रत्येक मानव में क्रियारत है। इसका विश्लेषण भी पहले स्पष्ट किया जा चुका है। स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि जीवन सहज शक्ति और बल अविभाज्य रूप में कार्यरत रहते हैं। इसके अध्ययन के लिए वस्तु मानव है और अध्ययन संभव है। इसी विधि से प्रत्येक मनुष्य द्वारा स्वयं को अध्ययन करना भी संभव हो गया।

इसके लिए जीवन विद्या कार्यक्रम योजना और ज्ञान प्रमाणित होने को आगे प्रस्तुत किया गया है।

ऐसा अक्षय बल, अक्षय शक्ति संपन्न जीवन ही जागृति पूर्वक दृष्टापद में वैभवित होने और प्रमाणित होने का कार्य सहज ही कर पाता है; जब से मानव परंपरा जागृत हो जाये तभी से। परम्परा जागृत होने के क्रम में ही विकल्पात्मक दर्शन, विकल्पात्मक विचारधारा और विकल्पात्मक शास्त्रों को अर्पित करने के क्रम में ही यह "समाधानात्मक भौतिकवाद" एक प्रबंध है। इस प्रबंध में अस्तित्व सहज अध्ययन प्रस्तुत करना हमारी प्रतिबद्धता है। अस्तित्व निरतंर व्यक्त रूप है। इसका प्रमाण वर्तमान है। अस्तित्व स्वयं समाधान रूप है।

मानव की भ्रमित बुद्धिवश सम्पूर्ण समस्याएँ मानव के लिए, समुदाय कल्पनावश मानव से निर्मित हैं।

इस बीच नैसर्गिकता के साथ जो कुछ भी अपराध, अत्याचार मानव ने किया है, उसके कुछ परिणाम मानव को भयभीत करने के रूप में घटनाएँ देखने सुनने को मिल रही हैं। जैसे- प्रदूषण, ऋतु असंतुलन, भूमि के वातावरण में असंतुलन आदि।

मानव के साथ मानव समुदाय चेतना के आधार पर विकसित, अविकसित के आधार पर जो कुछ भी द्रोह, विद्रोह और शोषण हुआ है, उससे युद्ध का प्रभाव और भावी महायुद्ध की संभावना ने मानव को आकुल-व्याकुल कर दिया हैं। आज मानव के पास समाधान की कोई दिशा न होने से मानव के प्रताड़ित, शोषित होने को स्वीकारने की विवशता में मानव आ गया है।

पर इसका निराकरण एक विधि से हैं- वह है "समाधान विधि"। अस्तित्व स्वयं समाधान है, इसीलिए अस्तित्व सहज विधि से ही सर्वमानव के समाधानित होने का सूत्र और संभावना समीचीन हैं। इसकी आवश्यकता को अधिकांश लोग अनुभव कर रहे हैं।

पूरकता विधि से समाधान:-

अस्तित्व में समाधान, दर्शनक्रम में किसी एक की भी ख्याति समाप्त नहीं हो सकती, चाहे मानव कितना भी समस्यात्मक प्रयत्न कर ले। अर्थात् कोई न कोई मानव संतान ही सर्वशुभ समाधान के लिए प्रयत्नशील रहता ही है। इससे यह ज्ञान, विवेक और प्रक्रिया सुलभ होती हैं कि एक दूसरे को मिटाने की आवश्यकता नहीं। सभी अवस्थाओं का अपना-अपना उपयोग, सदुपयोग, प्रयोजन अस्तित्व सहज विधि से ही अनुबंधित है। यही पूरकता विधि है। भ.व. (101-105)

जागृति पूर्वक संज्ञानीयता, भ्रमित में केवल संवेदनशीलता रहता है।

हर मानव, हर परिवार, हर समुदाय समाधान समृद्धि अभय, सहअस्तित्व को वरता है। वरने का तात्पर्य सुनने मात्र से ही कोई भूला हुआ चीज को स्मरण में ला लेना और स्वीकार लेने से है। वर लिया है-का तात्पर्य पहले से ही इन आकाँक्षाओ से सम्पन्न रहने से भी है। ज.व. (47)

संज्ञानशीलता (समझ, ज्ञान) विधि से ही हर व्यक्ति समाधान समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व को सर्वशुभ के अर्थ में स्वीकारता है जबकि संवेदनशीलता विधि से शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंधेन्द्रियों के अनुकूलता, प्रतिकूलता क्रम मे ही संग्रह सुविधा भोग अतिभोग की ओर ग्रसित होता हुआ समुदायो, परिवारो और व्यक्तियों को देखा गया है।

संज्ञानशीलता = जानना – मानना। संवेदनशीलता = पहचानना – निर्वाह करना। ज.व. (47-48)

शब्देन्द्रिय का तात्पर्य शब्दों को सार्थक निरर्थक रूप में विभाजित करने की क्रिया, सुनने; स्पर्श से कठोरता और मृदुलता को स्वीकारने की क्रिया, घ्राणेन्द्रियों से सुगन्ध और दुर्गन्ध को विभाजित करने की क्रिया, रूपेन्द्रियों से सुरूप, कुरूप की विभाजन क्रिया; रसनेन्द्रियों से खट्टा-मीठा, चरचरा, खारा, कसैला और तीखा इन रूचियों को विभाजित करने की क्रिया। कर्मेन्द्रियों का तात्पर्य हाथ, पैर, मल-मूत्र द्वार और मुँह ये सब कर्मेन्द्रियों में गण्य होना पाया जाता है। स.श. (246)

2.2 जीवन स्वरूप, क्रिया

मानव जीवन और शरीर का संयुक्त रुप है।

शरीर के किसी अंग-अव्यय में न्याय, समाधान, सत्य की प्रतीक्षा, अपेक्षा शरीर सहज ज्ञानेंद्रियां कार्यों कर्मेंद्रिय कार्यों में देखी दिखाई नहीं पड़ती। जैसा हाथ को न्याय की अपेक्षा, आंख, कान जीभ में न्याय, समाधान, सत्य की अपेक्षा चिन्हित रूप में समझने का कितना भी कोशिश करें निषेध ही निकलता है। ज्ञानेंद्रियों में जब ज्ञान की अपेक्षा स्वरूप रूपी न्याय, समाधान, सत्य कान, आंख, नाक व्यंजित नहीं कर पाता है अपितु इसमें उन उन ज्ञानेंद्रियों के लिए अनुकूल वस्तुओं का संयोग (सन्निकर्ष) अच्छा लगता लगना होता है। यह अच्छा लगा किसको ऐसा पूछा जाए हाथ, नाक, कान आंख में अच्छाइयों का कोई गवाही स्थिति नहीं रहता है | अ. व.(200-201)

यह भी देखा गया है, जैसे-पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा कोई भी भोग-प्रक्रिया को सम्पादित करें, उसकी निरंतरता नहीं हो पाती। इसीलिए भोग में असंतुष्टि का होना भी पाया जाता है। जबकि हर मानव हर समय संतुष्ट रहना चाहता है। संतुष्टि का इच्छुक हर व्यक्ति है। हर व्यक्ति के सम्मुख यह विचारणीय बिन्दु है कि क्या व्यक्ति सदा भोगवादी विधि से संतुष्ट रह सकता है ? क्या असंतुष्ट रहना जरूरी है ? क्या संतुष्टि की निरंतरता हो पाती है ? क्या असंतुष्टि ही असंतुष्टि हाथ लगती है ? इन प्रश्नों को परीशीलन करने के पहले हमें इन बातों का ध्यान रहना आवश्यक है कि मैं (मानव) जीवन और शरीर का संयुक्त रूप हूं।

जीवन नित्य है, शरीर जीवन के लिए सामयिक घटना है। जीवन चैतन्य वस्तु है, शरीर भौतिक रासायनिक वस्तु है। इस प्रकार शरीर यात्रा तक मानव कहलाता हूँ और शरीर यात्रा के अनन्तर जीवन रहता ही है।

जीवन, शरीर यात्रा समय में अपने जागृति को प्रमाणित करना उद्देश्य है। इस आधार पर और मानसिकता से उक्त बिन्दुओं का विश्लेषण करना संभव है। पहला विचारणीय पक्ष सदा-सदा मानव तृप्त हो सकता है ? इसका उत्तर हाँ हो सकता है। इसके बाद इससे लगा पुन: प्रश्न होता है कैसे हो सकता है ? इसके उत्तर में साफ-साफ मानव ही विश्लेषण की वस्तु के रूप में दिखाई पड़ती है। **हर मानव में संतुष्टि स्वीकृत है, असंतुष्टि स्वीकृत नहीं हैं**। संतुष्टि पाने के लिए ही मानव परंपरा में अर्पित रहता है भले ही वह छोटा सा समुदाय क्यों न हो ?

अभी तक मानव कुल विविध समुदाय में ही गण्य हो पाया है। इसीलिए हर मानव जन्म से मानव कुल में ही अर्थात् समुदाय में अर्पित होना दृष्टव्य है।

मानव शरीर ही जीवन जागृति को व्यक्त करने योग्य रचना है। ऐसी शरीर रचना की परंपरा स्थापित है। हर समुदाय में भी ऐसे ही शरीर रचना होने के व्यवस्था बन चुकी है। मानव शरीर रचना में मुख्य अंग मेधस रचना ही है। मेधस रचना के साथ ही कार्यतंत्रणा और ज्ञान तंत्रणा विधि निहित है, जीवन ही इन तंत्रणा विधियों से ज्ञान तंत्रणा पूर्वक कर्म तंत्रणा सम्पन्न करता है। ज्ञान तंत्रणा को हम ज्ञानेन्द्रियों में पहचान सकते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ शब्द स्पर्श, रूप, रस, गंधात्मक साक्ष्यों सहित प्रमाणित है। इन्हीं क्रियाओं के साथ ही मानव को जीवंत रहना प्रमाणित होता है। इन क्रियाओं के लुप्त होने के उपरान्त ही मरणासन्न या मृत हो जाता है। इसमें मुख्य तथ्य यही है मेधस से जीवन में जुड़ी हुई ज्ञान तंत्रणा जब तक बनी रहती है अथवा सम्पादित हो पाती है तब तक शरीर यात्रा की सार्थकता मूल्यांकित होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन शक्तियाँ ज्ञान तंत्रणा पूर्वक परावर्तित होते हैं। यही परावर्तन व्यवहार, उत्पादन और उपयोग क्रियाकलापों में साक्षित होता है। अ.श. (100-102)

जीवन के भुलावेवश ही अथवा जीवन विद्या का भुलावा अथवा अज्ञात रह जाना ही शरीर को जीवन समझने की विवशता है। तभी हम सोचने के लिए बाध्य हो जाते है शरीर में होने वाली क्रिया (निंद्रा) को जीवन का सोना (निद्रा) मान लेते है। जबकि ऐसा होता नहीं है। इसका साक्ष्य है कि जड़-चैतन्यात्मक कोई परमाणु निष्क्रिय नहीं होता अर्थात् सतत क्रियारत रहता है। चैतन्य क्रिया शरीर की अक्षमता को जानकर इसे चलाने और दौड़ाने की प्रेरणा की अक्षयता स्वभाव सिद्ध होते हुए शरीर द्वारा जितना कार्य कराना हैं अथवा शरीर जितना कार्य करने योग्य हैं उतना ही कराता है। इस प्रकार शरीर का सो जाना जीवन का सो जाना नहीं हुआ।

शरीर के लिए आहार, निद्रा आदि क्रियाओं का प्रयोजन सिद्ध होता हैं।

जीवन के लिए मूल्य और मूल्यांकन ही व्यवहारिक प्रयोजन सिद्ध होता है। शरीर निर्वाह ही जीवन तृप्ति नहीं है। जीवन की अनुग्रह बुद्धि (स्वीकृति) से ही शरीर निर्वाह की व्यवस्था हो पाती हैं। अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि शरीर जीवन नहीं है, जीवन शरीर नहीं है। जीवन नित्य हैं, जीवन के लिए शरीर एक साधन है और माध्यम है। भ. व.(90-92)

मानव में जागृति की प्यास, आवश्यकता प्रकारांतर से बनी ही है। यह प्रकारांतर से हर मानव में निरीक्षण, परीक्षण, सर्वेक्षण से इंगित होता है। शिशु काल से ही न्याय की अपेक्षा, सही कार्य-व्यवहार करने की इच्छा, सत्य बोलने की प्रवृत्तियाँ देखने को मिलता है। परंपरा का ही दमखम है अथवा गरिमा है कि इन आशाओं को सार्थक बना देना। अभी तक यह पूरा हो नही पाया।

जीवन सोता नहीं है, अपितु सतता कार्यरत रहता ही है। जीवन सहज अक्षय-कार्य में से आंशिक कार्य ही शरीर के द्वारा प्रमाणित हो पाता है।

जीवन जागृत होने के उपरांत भी जागृत-स्वप्न-सुसुप्ति (निंद्रा) अवस्थाओं में शरीर को जीवंत बनाए रखते हुए शरीर के दृष्टा पद में (देखने में) कार्यरत रहता ही है। इसमें जागृति के अनंतर शरीर को जीवन समझने वाला भ्रम दूर होता है। शरीर व्यवहार और अस्तित्व में दृष्टा पद स्वयं अनुभव सहज वैभव है। दृष्टापद ही पूर्णता का द्योतक यही परंपरा से प्रमाण है। पूर्णता के अनंतर उसकी निरंतरता होना ही प्रमाण, महिमा है। इस विधि से मानव परंपरा जागृत होने के उपरांत ही मानव कुल में भाग लेने वाले हर जीवन का अपेक्षा जो शैशवकाल में ही सर्वेक्षित हो पाता है, उसका भरपाई नित्य वैभव के रूप में सम्पन्न होना पाया जाता है।

इससे हम यह निष्कर्ष को पाते हैं कि शिशुकालीन अपेक्षाएँ, शोध-कार्य प्रवृत्ति कार्यप्रणाली के शोध के लिए प्रेरक होता है।

दूसरा, मानव कुल में व्याप्त कुण्ठा यथा द्रोह-विद्रोह-शोषण और युद्ध साथ ही द्वेष से ग्रसित परिवार, समुदाय अपने त्रासदी जागृति महिमावश भ्रम मुक्ति और शोध प्रवृत्ति की आवश्यकता को इंगित करता है। **तीसरा,** यह धरती का शक्ल-सूरत ही बदल जाना, पर्यावरण में प्रदूषण अपने पराकाष्ठा तक पहुँचना पुन: प्रचलित सूझबूझ के स्थान पर जिससे यह घटनाएँ हुईं विकल्पात्मक सूझबूझ के शोध की आवश्यकता को स्पष्ट करता है। अ.श. (124-126)

जीवन क्रियाकलाप,क्रिया

जीवन प्रत्येक मानव में, समान रूप में विद्यमान होने के सत्य में जागृति आवश्यक है। जीवन के क्रियाकलाप का पहला स्वरुप:-

1. कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता है।
2. जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करने की क्रिया है।

उपरोक्त के स्वरूप में प्रत्येक जीवन में 10 क्रियाएँ है :- पाँच प्रत्यावर्तन (स्थिति) में, पाँच परावर्तन (गति) में। समझना प्रत्यावर्तन है, व्यक्त करना परावर्तन है। आस्वादन – तुलन – चिंतन – बोध – अनुभव यह प्रत्यावर्तन (स्थिति) में, चयन – विश्लेषण – चित्रण – संकल्प – प्रामाणिकता यह परावर्तन(गति) में।

- आस्वादन और चयन रूपी दो क्रिया मन में है।
- तुलन और विश्लेषण रूपी दो क्रिया वृत्ति में है।
- चिन्तन और चित्रण रूपी दो क्रिया चित्त में है।
- बोध और ऋतम्भरा रूपी दो क्रिया बुद्धि में है।
- अनुभव और प्रामाणिकता रूपी दो क्रिया आत्मा में है।

ये सभी क्रियाएँ जागृतिपूर्ण जीवन सहज रूप में प्रमाणित होना पाया गया और जागृति प्रत्येक व्यक्ति में होना संभावित भी है। (क्रम से मन - वृत्ति - चित्त - बुद्धि - आत्मा यह पाँच बल स्थिति में, तथा आशा - विचार - इच्छा - ऋतंभरा - प्रमाण पाँच शक्ति गति में है।)

इसी रूप में

- आस्वादन क्रिया का नाम मन है।
- तुलन क्रिया का नाम वृत्ति है।
- चिंतन क्रिया का नाम चित्त है।
- बोध क्रिया का नाम बुद्धि है।
- अनुभव क्रिया का नाम आत्मा है।
- चयन क्रिया का नाम आय आशा है।
- विश्लेषण क्रिया का नाम विचार है।
- चित्रण क्रिया का नाम इच्छा है।
- संकल्प क्रिया का नाम ऋतंभरा है।
- प्रामाणिकता क्रिया का नाम प्रमाण है।

जीवन क्रिया

जागृत जीवन में दस क्रियायें

	प्रत्यावर्तन		परावर्तन	
	जीवन बल (स्थिति)	**क्रिया**	**क्रिया**	**जीवन शक्ति(गति)**
1	आत्मा	अनुभव	प्रामाणिकता	प्रमाण
2.	बुद्धि	बोध	संकल्प	ऋतंभरा
3.	चित्त	चिंतन (साक्षात्कार)	चित्रण	इच्छा
4	वृत्ति	तुलन	विश्लेषण	विचार
5.	मन	आस्वादन (मूल्यों का)	चयन (संबंधों की पहचान)	आशा

सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी

समाधान, समृद्धि सम्पन्न परिवार फलत:

अखण्ड समाज में भागीदारी

(1) कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता के आधार पर ही मानव ने अपनी आशा, विचार, इच्छा के अनुरुप सामान्य आकांक्षा (आहार-आवास-अलंकार), महत्वाकांक्षा (दुरगमन-दूरश्रवण-दूरदर्शन) संबंधी वस्तुओं और उपकरणों को तैयार कर लिया हैं। इसी के आधार पर निर्भर रहकर अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था साकार नहीं हो पाई। इसलिए मानव सहज विभूतियों को समझना और मानव आकांक्षा सहज अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था को साकार करने के उद्देश्य से मानव का संपूर्ण अध्ययन करना आवश्यक है।

प्रत्येक मानव चाहे बालक हो,वृद्ध हो, अमीर हो, गरीब हो, किसी भी देश, जाति, धर्म को मानने वाला हो, में कल्पनाशीलता की महिमा दिखाई देता है। यह जीवन सहज महिमा है, न कि शरीर गत।

इसी क्रम में, कर्म स्वतंत्रता वश मानव ने अनेक यंत्र, उपकरणों को बना डाला। आज तक मानव जो भी सोचा है, पहचाना है, समझा है, किया है इसी कल्पनाशीलता -कर्मस्वतंत्रता की महिमा है। कल्पनाशीलता अक्षय है। हम कितना भी कल्पना करें और करने के लिए शेष बचा ही रहता है। भ.व.(305-315)

(2) **जानना मानना पहचानना निर्वाह करना** :- अस्तित्व में पहचानने का क्रिया - स्वरूप ही निर्वाह करने के अर्थ को प्रमाणित कर देता है। मानवेत्तर प्रकृति में पहचानने - निर्वाह करने की प्रक्रिया विधि नित्य वर्तमान है। इसका प्रमाण पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था में देखने को मिलता है। जैसे एक परमाणु दूसरे परमाणु को पहचानता है, तभी अणु रूप में बन पाता है। यह अपने में निर्वाह करने का प्रमाण है। इसी विधि से अणु से अणु रचित पिंड, रचनाएँ, सभी पहचानने निर्वाह करने का प्रमाण है। प्राणावस्था के पौधे पेड़ पौधे मिट्टी को पहचानते हैं तथा निर्वाह करते हैं। जीव अपने आधार को पहचानता है, निर्वाह करता है।

मानने की क्रिया, जीवों तथा मानव में ही देखने को मिलता है।

जैसे गाय अपने निश्चित स्थान को पहचानता है। बाग मानव के संकेतों को स्वीकार कर उसके अनुसार चलता है। यदि कुत्ता, घोड़ा में भी देख सकते हैं। मानव में मानने की क्रिया है ही। मानव अपने को किसी देश, जाति, धर्म, पंथ का मानता ही है। न्याय को मानता है, सत्य को मानता है। यह सब कल्पनाशीलता का ही प्रकाशन है। जानने-मानने का जो मौलिक स्थित है,गति है, वह केवल मानव में ही होना पाया जाता है (यह जागृत विधि से आता है)।

अस्तित्व में 'जो कुछ' भी है यह 'सब कुछ' को मानव मानना जानना चाहता है। जाने का फलन मानने के रूप में आता है। मानने का स्वरूप है – "यह सत्य है इसे स्वीकारना है। मानव में जानने के आधार पर ही मानना- पहचानना- निर्वाह करना सार्थक होना पाया जाता है। किसी के अस्तित्व को बिना जाने मान मान लेना ही मान्यता का स्वरूप है। ऐसी मान्यता में अधिमुल्यन, अवमूल्यन, निर्मुल्यन दोष रहता ही है, यही भ्रम है।"

जीवन के दस क्रियाएँ - परिचय

आस्वादन और चयन(आशा) -

बच्चे-बूढ़े, ज्ञानी, अज्ञानी, विद्वान, मूर्ख सब में चयन करना और आस्वादन करने की क्रिया को देखा जा सकता है। बच्चों को बहुत सारे खिलौने, विविध मिठाइयों के सम्मुख रखने पर हर बच्चा अपने-अपने तरीके से किसी-किसी वस्तु को अपनाता हुआ देखने को मिलता हैं। इस प्रकार सभी बच्चे विविध प्रकार से चयन क्रिया संपन्न करते हुए देखने को मिलते हैं। इसको खेत, खलिहान, फैक्ट्रियों, उद्योगों और उत्पादन, बाजार, व्यापार, जंगल, झाड़ी-औषधि, जड़ी-बूटी आदि सभी जगहों में आजमाया जा सकता हैं।

यह चयन क्रिया सर्वाधिक रुचि मूलक विधि से होता देखने को मिलता हैं। फलत: आस्वादन का कार्यकलाप पाँचों ज्ञानेन्द्रिय प्रधान विधि से होना पाया जाता है।

प्रत्येक चयन किसी आस्वादन के लिए ही होना पाया जाता है। कर्मेन्द्रियों द्वारा चयन और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधेन्द्रियों द्वारा जीवन आस्वादन क्रिया करता हुआ देखने को मिलता हैं। इसको हम प्रत्येक स्थिति में परीक्षण कर सकते हैं। स्वयं को भी निरीक्षण परीक्षण की वस्तु के रूप में इस्तेमाल कर सकते हैं और दूसरों को भी उपयोग कर सकते है।

तुलन और विश्लेषण (विचार) -

तुलन में मानव प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभात्मक तुलन को हर स्थिति में भ्रमित व्यक्ति करता है। प्रिय-अप्रियता का संपूर्ण तुलन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ ही सर्वाधिक हो पाता है। स्वयं के साथ भी, दूसरों के साथ भी यही देखने को मिलता हैं। हिताहित संबंधी तुलन शरीर स्वास्थ्य केन्द्रित विधि से होना पाया जाता हैं। स्वास्थ्य के लिए उचित अनुचित के आधार पर हिताहित का निर्णय होना स्पष्ट है। जहाँ तक लाभालाभात्मक तुलन का कार्य रूप हैं कम देना, ज्यादा लेना की इच्छा, विचार, आशा से संबंद्ध रहता हैं। इसी क्रम में लाभोन्माद तक लाभोन्मादी व्यापारवाद को मानव परंपरा ने अपनाया है।

ऊपर कही गई तीनों दृष्टियाँ (प्रिय-हित-लाभ तुलन) बिना सही समझदारी के भी अधिकांश व्यक्तियों में क्रियाशील रहती हैं। ऐसी तीनों दृष्टियाँ जीवों में भी किसी अंश में क्रियाशील होना, देखने को मिलती हैं।

मौलिक रूप में जागृत मानव में कार्य करने वाली क्रियाशील दृष्टियाँ है, वे दृष्टियाँ है न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म और सत्य-असत्य। मानव परपंरा में सहज रूप में जागृति और इनकी निरंतरता ही जागृति का मतलब है। संबंधों को पहचानना, मूल्यों को निर्वाह करना तथा मूल्यांकन क्रिया व उभय तृप्ति का होना अपने रूप में न्याय है। इस क्रम में न्याय सबके लिए वांछित रहते हुए परम्परागत विधि से सर्व सुलभ होने की स्थिति तथा प्रमाण, किसी परंपरा में देखने को नहीं मिलता हैं क्योंकि न्याय संहिता व न्यायालयों में फैसला करते हैं, न्याय नहीं। यह स्वाभाविक रूप में मानववादी चिंतन क्रम में दृष्टिगोचर होता हैं।

तुलन की 6 दृष्टियाँ :-

प्रिय - इंद्रियाँ सापेक्ष

हित - स्वास्थ्य सापेक्ष

लाभ - वस्तु/सेवा सापेक्ष

न्याय - संबंध / व्यवहार सापेक्ष

धर्म - व्यवस्था / समाधान सापेक्ष

सत्य - अस्तित्व सापेक्ष

आस्वादन - रूचि मूलक, मूल्य मूलक अथवा लक्ष्य मूलक विधि से होता है।

प्रिय - सर्वाधिक रूचि मूलक होना पाया जाता है।

हित - जीवन शरीर को स्वस्थ रखना।

लाभ - काम दे कर ज्यादा लेना । अ. श (12)

रूचियों में सुख भासता है। फलस्वरूप उसकी निरंतरता की आशा, आवश्यकता का उदय होता है। इसी तथ्यवश सुख की, निरंतरता के लिए प्रयासोदय का जीवन जागृति विधि से ही स्फूर्ति होना पाया जाता है। सुख की निरंतरता के लिए अनेक प्रकार से प्रयास करना, स्पष्ट है। जैसे प्रत्येक मानव, प्रत्येक कार्य को, सुख की अपेक्षा में करता है। इसका प्रमाण स्पष्ट है कि सभी प्रकार की आशाएं सुखापेक्षा में हैं। म्. वि. (99)

चिंतन - चित्रण (इच्छा) -

प्रत्येक मानव चित्रण कार्य करता ही है। जैसे हम- मानचित्रों में एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए सड़क को मन में बना लेते हैं। इसमें रेल रास्ता, सड़क इत्यादि बना लेते हैं। प्रत्येक चित्रण में रूप और गुण समाया रहना सहज है। पांच ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से प्राप्त सारा संकेत चित्त में चित्रण रूपी स्मरण में पहचाना जा सकता है। (चित्रण (स्मरण) को प्राप्त करने की विधि को इच्छा कहां है।)

भ्रमित मानव (जीव चेतना) में सारा आशा, विचार, इच्छाएं प्रिय-हित -लाभ दृष्टि द्वारा इंद्रियां सन्निकर्ष विधि से शरीर मुल्क होना पाया जाता है। फलतः अतृप्ति है। अध्ययन विधि से साक्षात्कार होता है, अनुभव पूर्वक चिंतन होता है। अ. श. (12), संवाद (२००९)

चिंतन – चित्त में ही चित्रण कार्य सम्पन्न होता है। इसके पहले चयन और आस्वादन, विश्लेषण और तुलन क्रियाओं को, प्रत्येक भ्रमित मानव में इन्द्रिय सन्निकर्ष पूर्वक संपन्न होना स्पष्ट किया जा चुका है। यही कुल भ्रमित जीवन में होने वाली साढ़े चार (4½) क्रिया है। चिंतन में ही प्रयोजनों को अनुभव रूप में पहचाना जाता हैं। चिंतन विधि से न्याय के प्रयोजन को मनुष्य पहचानता हैं, जीवन पहचानता हैं। न्याय धर्म सत्य ही जीवन सहज प्रयोजन है, इसी का साक्षात्कार होता है *(अध्ययन विधि में चिंतन को साक्षात्कार कहा है)* |

न्याय धर्म सत्य दृष्टियां के संयोग से ही साक्षात्कार होना पाया जाता है। साक्षात्कार रूप गुण स्वभाव धर्म के संयुक्त रूप में होता है | न्याय धर्म सत्य – यह साक्षात्कार होता है | (संवाद, २०१०)

बोध - संकल्प (ऋतंभरा) -

बोध जो कुछ भी होता है, न्याय- धर्म- सत्य का ही होता है। वह अपने में जानना मानना ही है। जानने मानने का संतुलन का नाम है बोध | यह निश्चयात्मक स्वीकृति ही है | स्वभाव धर्म का बोध होता है (संवाद, २०१०)

अनुभव - प्रामाणिकता (प्रमाण) -

जानने-मानने का तृप्ति बिंदु अनुभव है। सत्य सहज पूर्ण स्वीकृति अनुभव है।

इस विधि से भ्रमित अवस्था में साढें चार क्रिया (चयन, आस्वादन, आशा, तुलन (मात्र प्रिय, हित, लाभ), विश्लेषण और चित्रण) तथा जागृत स्थिति में 10 क्रियाएं जीवन में व्यक्त होना पाया जाता है। स्थिति में बल, गति में शक्ति है। प्रत्यावर्तन क्रिया का नाम बल है। (जैसे आस्वादन क्रिया का नाम मन, तुलन क्रिया का नाम वृत्ति, चिंतन क्रिया का नाम चित्त। परावर्तन क्रिया का नाम शक्ति है। जैसे चयन - आशा, विश्लेषण - विचार, चित्रण - इच्छा।

इस ढंग से 5 बल, 5 शक्ति के रूप में 5 प्रत्यावर्तन क्रिया, 5 परावर्तन क्रिया जीवन में अविभाज्य रूप में पाया जाता है। यह 10 क्रिया जागृति पूर्वक ही सफल (व्यक्त) है। भ. व। (318), संवाद(2008)

अनुभवमूलक विधि से ही प्रमाणिकता का बोध-संकल्प, प्रमाणिकता का चिंतन-चित्रण न्याय, धर्म, सत्य सहज तुलन, विश्लेषण, मानवीय मूल्यों का आस्वादन और चयन सहित जीवन क्रिया प्रणाली और शैली स्थापित होना ही जागृति परंपरा का, जागृत मानव का प्रमाण है। यह भी सर्वविदित है, जागृत मानव ही जागृत परंपरा का संस्थापक, धारक- वाहक होना सहज है। इस प्रकार जागृति शैली का तात्पर्य अभिव्यक्ति, संप्रेषणों, कार्य-व्यवहार के रूप में स्पष्ट होना ही जागृत परंपरा के नाम से इंगित आशय है। अ. व. (200)

न्याय, धर्म, सत्य की सर्वमानव में अपेक्षा, स्वीकृति

- न्याय सबको चाहिए, धर्म अर्थात सार्वभौम व्यवस्था अखंड समाज होना चाहिए, सत्य समझ में आना चाहिए क्योंकि यह जीवन सहज स्वीकृति होने के कारण इन्हें बिना समझे भी जीवन स्वीकारा ही रहता है इसीलिए यह सबके लिए आवश्यक है।
- प्रिय-हित-लाभ क्रियाकलापों में व्यस्त रहते हुए भी न्याय-धर्म-सत्य की स्वीकृति, अपेक्षा, कल्पना करता हुआ मानव को देखा गया है। अ. व. (105,189)
- भ्रमित मानव में भी न्याय, धर्म, सत्य की स्वीकृति बनी हुई है किंतु इसी के साथ परंपरा में इसकी प्रमाणिकता की उपलब्धि नहीं रहने के कारण मानव अपने तरीके से जीने के स्वरूप को बना लेता है। ज. व.(संस-2002) पृ (108)
- मानव संबंध, प्रकृति संबंध का सार्थक, अवांछनीय जैसे विचार, स्वीकृति और आशा के रूप में स्वीकृतियाँ मानव में रहती ही हैं। स. श. (35)

जीवन क्रियाएँ अविभाज्य है

जीवन शक्तियों को किसी भी घर में, घाट में, तिजोरी में, बैंक में, अधिकोषों में, राज कोषों में, विश्वकोषों में जमा नहीं किया जा सकता। इसी तथ्य के आधार पर बौद्धिक आरक्षण की निरर्थकता समझ में आती है। क्योंकि जीवन शक्ति और बल सतत ही अक्षय है। यह नित्य स्थिति और गति सम्पन्न है। स्थिति में बल, गति में शक्ति अथवा गति को शक्ति कहा जाता

है। स्थिति गति का अविभाज्यता जीवन में चरितार्थ होना पाया जाता है। ऐसी शक्तियों को, बलों को जीवन ही जीवन से, जीवन के लिए जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना संभव है।

जीवन ज्ञान (जीवन को समझना, स्वयं का ज्ञान) के साथ अस्तित्व दर्शन (सम्पूर्ण अस्तित्व को समझना), मानवीयता पूर्ण आचरण (मानव संबंध, नैसर्गिक संबंध, मानवत्व, भागीदारी समझना) समाहित रहता है।

जीवन ही शरीर को जीवन्त बनाए रखता है। जीवन क्रियाएँ अविभाज्य क्रिया है। जीवन एक चैतन्य परमाणु, भार बंधन और अणु बंधन से मुक्त इकाई के रूप में होना पाया जाता है। ऐसे परमाणु में चतुर्थ परिवेशीय अशों का नाम है मन, क्रिया है चयन और आस्वादन या वृत्ति, चित्त, बुद्धि और आत्मा यह भी नाम ही है, इस के साथ ही कार्यरत रहना पाया जाता है, इसलिए मन को जीवन में अविभाज्य कार्य बताया गया। जीवन ही शरीर को जीवंत बनाये रखता है। म.व. (110)

जीवन- मेधस- शरीर

जीव शरीरों, मानव शरीरों में, डिम्ब शुक्र संयोग के आधार पर भ्रूण एवं भ्रूण के आधार पर संपूर्ण अंग अवयवों की रचना विधि देखने को मिलती हैं। इसकी रचना स्थली गर्भाशय में व्यवस्थित है। ऐसी शरीर रचना में मेधस रचना (ब्रेन) भी एक प्रधान भाग है। मानव शरीर रचना में ही समृद्ध पूर्ण मेधस रचना पाई जाती हैं। हृदय आदि सभी प्रधान अंग-अवयवों सहित शरीर की संपूर्ण मौलिकता, श्वसन क्रिया करना ही उपलब्धि हैं।

मूल प्राण कोषा में भी श्वसन क्रिया ही मौलिक पहचान का आधार रहा हैं। उसी प्रकार मानव शरीर रचना के उपरान्त भी उतनी ही मौलिकता देखी गई।

ऐसे (समृद्ध मेधस युक्त शरीर) शरीर को चलाने वाला जीवन ही होता हैं। जो आशा, विचार, इच्छा, ऋतम्भरा एवं प्रमाण के रूप में ही शरीर संचालन में प्रमाणित होता हैं। ऐसा जीवन शरीर को, जीवंतता प्रदान किये रखता हैं। आशा आदि के अनुरुप इंद्रियाँ संचालित हो पाती हैं। इस विधि से, शरीर और जीवन को संयुक्त रूप में होना सहज रहा है। जीवन, अपने अनुसार, जागृति क्रम में जागृति पूर्णता को व्यक्त करने के लिए मानव शरीर को संचालित करता हैं। यह परंपरा में प्रमाणित है। भ.व. (276)

संकरीकरण (नस्ल मिश्रण) विधि से मानव में कुछ लोग नस्ल परिवर्तन को मानते हैं। उनका सोचना है कि नस्ल के आधार पर अच्छा-बुरा आदमी होता हैं जबकि मूलत: मानव शरीर और जीवन का संयुक्त साकार रूप हैं, इस कारण काले-गोरे, मोटे-पतले, ऊँचे-ठिगने सभी प्रकार के मानव जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में ही नियंत्रित है। मानव में जो कुछ भी परितर्वन होना या जागृति होना हैं वह, जीवन में ही होना है। जीवन में परिवर्तन होने का साक्ष्य समझदारी है। जीवन में ही समझदारी और संस्कार समाया रहता है। जीवन, शरीर के द्वारा प्रमाणित होता है। ऊपर कहे सभी प्रकार के मानवों में जीवन समान प्रकार में व्यक्त होना सहज हैं।

क्योंकि हर प्रकार के आदमी गणित को समझते हैं, समझा है। शरीर शास्त्र को समझता है, वनस्पति शास्त्र को समझता हैं, जो समझदारी एक प्रजाति के व्यक्ति को हो पाया हैं, वह सभी प्रजाति के व्यक्तियों में होना पाया गया है।

इस समझदारी से प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति समझदारी सहज अधिकार के रूप में समान दिखाई पड़ते हैं। यही मानव जाति में मौलिक तत्व हैं, इसी के आधार पर मानव की एकता, अखण्डता सहज सूत्र समााहित हैं। मानव के शरीर रचना की विविधता के आधार पर एकता और अखण्डता की कल्पना भी होना संभव नहीं है। **इसलिए जीवन में समानता के आधार पर मानव सहज एकता स्पष्ट हो जाता है।** जबकि नस्ल के बदलने से अथवा शरीर के आकार-प्रकार के बदलने मात्र से मानव की एकता, अखण्डता नहीं बन पाती। भ. व. (292-293)

2.3 जीवन में भ्रम, जागृति

भ्रम- भय, प्रलोभन, आस्था – जीव चेतना

अस्तित्व नित्य वर्तमान है, जागृत मानव दृष्टा पद में है; यह परम सत्य हैं, इस पर आधारित एक नजरिया है। इस नजरिए से विगत को, इतिहास के ढंग से देखने पर पता चलता है कि सभी परम्पराएँ अपने-अपने समुदाय अथवा व्यक्ति के लिए अनेकानेक छल, बल, सम्मोहन, प्रलोभन करती रही और इससे परेशानियाँ बढ़ाता रहा। इसका मूल कारण इतना ही है कि भ्रमित मानव समुदाय परंपरा में अपने ढंग से भ्रमित रहकर भ्रमित परंपरा बनाने के लिए जीवन की शक्तियों को लगाते रहे।

आदिकाल से ही मानव जीवन और शरीर का संयुक्त साकार रूप हैं, जीव चेतनावश भय प्रलोभन रूप में जीवन शक्तियाँ पहले भी काम करती रही हैं, अभी भी काम कर रही हैं। इस आधार पर वर्तमान में भ्रम-निर्भ्रम संबंधी परीक्षण करने जाते हैं तब पता चलता है कि :-

1. मानव सर्वप्रथम कल्पनाओं को भ्रमवश सत्य मानता रहा है।
2. भ्रमित विचारों के आधार पर सत्य मान लेता है।
3. भ्रमित इच्छाओं के आधार पर सत्य मान लेता है।
4. सत्य बोध के आधार पर सह-अस्तित्व समझ में आता है।
5. सह-अस्तित्व रूपी परम सत्य में अनुभव के आधार पर सत्य समझता है, प्रमाणित रहता है। भ. व. (138 -139)

भ्रम का तात्पर्य ही होता है – अधिमूल्यन (जो जैसा है उससे अधिक मानना), अवमूल्यन (जो जैसा है उससे कम मानना), र्निमूल्यन(जो जैसा है उसे नहीं देख पाना, अथवा अन्यथा मान लेना)। जैसे मानव को समझने के क्रम में र्निमूल्यन, प्रतीक मुद्राओं (पैसे) का अधिमूल्यन, उपयोगिता मूल्य का अवमूल्यन किया गया एवम् मानव को समझने के मूल में जीव कोटि का मानते हुए झेल लिया। यही निर्मूल्यन होने के फलस्वरूप भ्रम के शिकंजे में कसता ही गया।

नैसर्गिकता का अवमूल्यन - मानवेत्तर जीव कोटि वन खनिज के मूल्यों का नासमझी वश दुरुपयोग किया। वन और खनिज के दुरुपयोगिता क्रम में धरती का अवमूल्यन हुआ।

मानव जब वैज्ञानिक युग में आया तब से धरती में निहित वन-खनिज संसार पर आक्रमण तेजी से बढ़ाया। उन-उन समय में इसको उपलब्धियाँ मान ली गई। इसके परिणाम में आज की स्थिति में परिवर्तन पाते हैं अथवा दुष्परिणामों को पाते हैं। दूषित हवा, पानी, धरती, अनाज, धरती का वातावरण और दूषित इरादे। लाभोन्मादी, भोगान्मादी, कामोन्मादी शिक्षा तंत्र, प्रचार तंत्र और गति माध्यम का दुरुपयोग, ये सब साक्ष्य भ्रमित मानव मानस के उपक्रम के रूप में हम पाते हैं। भ्रम-निर्भ्रमता को आंकलित करना, जीव चेतना एवं मानव चेतना के आधार पर है।

जीवन ज्ञान, सह-अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान में पारंगत होने के उपरांत ही तुलनात्मक (भ्रम- निर्भ्रम का) समझ संभव होना पाया गया। अ.श. (111-113)

इस वर्तमान में अर्थात बीसवीं सदी की दसवीं दशक में सर्वाधिक मानव भ्रांतिपद (भ्रमित स्थिति) में होते हुए ज्ञानावस्था में है। अर्थात ज्ञान समृद्ध होने के लिए उम्मीदवार के रूप में है इसलिए जागृति क्रम में होना स्वीकार होता है। सर्व मानव ही ज्ञानावस्था की इकाई के रूप में वर्तमान है। अजागृत अर्थात् भ्रमित व्यक्ति में भी जागृति की आवश्यकता बनी ही रहती है। म.वि. (167- 170)

मेरे अनुसार लोकमानस जागृति के पक्ष में है जागृति का मतलब जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना ही है। भ्रमित स्थिति में केवल मानने के आधार पर पहचानना निर्वाह करना होता है, जानना शेष रहता है। मानव परम्परा में अभी छ: सात सौ करोड़ की जनसंख्या बतायी जाती है। इन सात सौ करोड़ आदमियों मे से कोई ऐसा मेरी नजर में नहीं आता है जो

जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने से मुकरे। जानने, मानने के उपरान्त पहचानना निर्वाह करना स्वाभाविक होता है। जानना मानना नहीं होने पर भी मानव में (मानने के आधार पर मान्यतावश) पहचानना निर्वाह करना होता ही है।

न जानते हुए पहचानने के लिए प्रयत्न संवेदनशीलता के साथ ही हो पाता है। मानव परम्परा में संवेदनाओ (संवेदना = शरीर संबंधी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इंद्रियों को राजी करना) का आधार झगड़े की जड़ बन चुकी है।

हर मानव आवेशित न रहते हुए स्थिति में झगड़े के पक्ष में नहीं होता है जब आवेशित रहता है तभी झगड़े के पक्ष में होता है। आवेशित होना भय और प्रलोभन के आधार पर ही होता है। सारे प्रलोभन संवेदनाओं के पक्ष में है सारे भय भी संवेदनाओ के आधार पर ही है। इसलिए समझदारीपूर्वक व्यवस्था में भागीदारी के आधार पर मानव लक्ष्य को सार्थक बनाने के कार्यक्रम में क्रियाशील रहना, निष्ठान्वित रहना ही समाधान परम्परा का आधार है।

समाधान अपने आप में न भय है न प्रलोभन है निरन्तर सुख का स्रोत है। यही संज्ञानशीलता (ज्ञान, समझ = संज्ञानशीलता) का प्रमाण है। यही मानवीयता पूर्ण शिक्षा संस्कार का फलन है। ज.व. (180-181)

जबकि वर्तमान में जीवन सहज कार्यकलाप के अनुसार आशा, विचार, इच्छा के साथ-साथ प्रिय-हित-लाभ रूपी नजरिया क्रियाशील रहना भ्रमित मानव का प्रकाशन है भ्रमित अवस्था की यही लम्बाई-चौड़ाई है। इन्हीं के विस्तार वांग्मय के साथ-साथ भय और प्रलोभन का पुट देते हुए वांग्मयों का निर्माण होता रहा है। ऐसे वांग्मयों को (भय और प्रलोभनवादी परिकथाओं-कथाओं) बड़े सम्मान से लोक श्रवण स्वीकारता हुआ देखा गया।

इससे स्पष्ट हो जाता है भय और प्रलोभन से चलकर आस्था तक पहुँचना जागृति क्रम में एक मंजिल मान लिया गया।

आस्थावाद से ही अधिकाधिक आश्वासन, भय से राहत पाने का आश्वासन बना रहा है। कड़ी के रूप में इन सबको सीढ़ी-दर-सीढ़ी में होना देखा गया है। यह अंतिम मंजिल नहीं है यह भी देखा गया है। इसी क्रम में अर्थशास्त्र को भी विचार रूप में लाभ को एक आवश्यकीय तत्व मानते हुए ही प्रस्तुत किया गया।

संग्रह का तृप्ति बिन्दु न होने के कारण सबको संग्रह सुलभ होना संभव नहीं हुआ। क्योंकि यह धरती सीमित है। वस्तुएं दो प्रकार से बंट गईं। वस्तु और प्रतीक वस्तु, और प्रतीक वस्तु का प्रतीक वस्तु। जैसे सम्पूर्ण वस्तुओं का एक प्रतीक वस्तु सोना, सोना का प्रतीक वस्तु पत्र मुद्रा देखा गया। अ.श. (107-108)

न्याय, धर्म, सत्य दृष्टि की क्रियाशीलता

साक्षात्कार- बोध-अनुभव : जागृति, मानव चेतना

भ्रम का सम्पूर्ण स्वरूप आशा, विचार, इच्छा (चित्रण) का प्रिय, हित, लाभात्मक दृष्टियों की क्रियाशीलता ही है। भय, प्रलोभनात्मक प्रणाली में व्यवस्था की परिकल्पना मानव को स्वार्थी, अज्ञानी, पापी, गलती और अपराध करने वाला है; ऐसा मानते हुए सम्पूर्ण योजनाओं को स्थापित करना ये भ्रमात्मक कार्यकलापों का विस्तार है। यही परम्परा के रूप में अनुवर्ती होने की प्रेरणा देना जिसमें से स्वार्थ, पाप, अज्ञान मुक्ति धर्मगद्दियों के कार्यक्रम के रूप में और गलती को गलती से रोकना, अपराध को अपराध से रोकना और युद्ध को युद्ध से रोकना यह राजगद्दियों के कार्यक्रम के रूप में दृष्टव्य है।

धर्मगद्दियों से मोक्ष और बंधन की चर्चा हरेक पीढ़ी सुनते ही आया है। मोक्ष सर्वोपरि अथवा परम उपलब्धि अथवा परम घटना के रूप में बताते हैं। इसे बताते समय में भले ही विभिन्नता हो, हर धर्मगद्दियाँ मोक्ष को सर्वोपरि प्रतिपादित करते हैं।

इसी के साथ-साथ स्वर्ग-नर्क की परिकल्पना भी मानव मानस में समाहित कर चुके हैं। इस मुद्दे पर बन्धन का स्वरूप अध्ययनगम्य होने की विधि से जीवन क्रियाकलापों में भ्रमवश पीड़ित होना ही है। जीवन में ही जागृति की सम्भावना नित्य समीचीन रहता ही है। मौलिक तथ्य यही है हर मानव जागृति पूर्वक ही समाधानित होना देखा गया। ऐसा जागृति बिन्दुएँ -

1. अस्तित्व में जागृत होने के रूप में और यह सर्वसुलभ होने के रूप में देखा गया। इसीलिये यह अनुभवात्मक अध्यात्मवाद अध्ययनगम्य होने की विधि से प्रस्तुत किया गया है।
2. अनुभव (जानने मनाने की तृप्ति बिन्दु) जीवन में ही, जीवन से ही, जीवन के लिये ही समीचीन है। जैसा-मानव जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में है एवम् शरीर को जीवन संचालित करता है यह दोनों तथ्य स्पष्ट हो चुकी है। जीवन ही भ्रमित अवस्था में भ्रमित रहकर बन्धन के पीड़ाओं से पीड़ित होता है। शरीर और संसार के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष और कल्पनापूर्वक समस्त प्रकार के अव्यवस्था का पीड़ा होना अथवा अव्यवस्था के समझ के अनुपात में पीड़ित होना देखा गया। इस तथ्य को हर मानव अपने में निरीक्षण-परीक्षण पूर्वक पहचानना सहज है।

सर्वमानव पीड़ा से मुक्ति चाहता ही है। यही जागृति सहज अपेक्षा का स्रोत और सम्भावना है। जीवन सहज क्रियाकलापों में, से न्याय, धर्म, सत्य का साक्षात्कार और दृष्टा होना और उसका प्रमाण सिद्ध होना ही सम्पूर्ण जागृति है। दृष्टापद में होने वाली सम्पूर्ण क्रियाकलाप जीवन सहज विधि से जानने-मानने-पहचानने-निर्वाह करने के रूप में होना पाया गया है। जानने-मानने की सम्पूर्ण वस्तु जीवन ज्ञान, सह-अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान ही है।

- न्याय : संबंध सापेक्ष/ संबंधों का पहचान, मूल्यों का निर्वाह, मूल्यांकन, उभय तृप्ति।
- धर्म : व्यवस्था सापेक्ष/ सर्वतोमुखी समाधान = सुख = मानव का धारणा।
- सत्य : अस्तित्व सापेक्ष = सहअस्तित्व = व्यापक सत्ता में संपृक्त जड़ चैतन्य प्रकृति। अ.व. (146-148)

अध्ययन विधि में न्याय, धर्म, सत्य का भास, आभास, प्रतीति (साक्षात्कार बोध) एवं अनुभव होना पाया जाता है। सत्य भास होने पर हम आगे चल देते हैं। साक्षात्कार में ही निरंतर रहने वाली वस्तु, अर्थात देश काल मुक्त वस्तु न्याय, धर्म, सत्य रूप में सार्वभौम वस्तुओं का निश्चय हो पाता है। यही स्वभाव धर्म ही है | साक्षात्कार होने के बाद ही बोध, अनुभव होता है। संवाद(2010)

प्रिय, हित, लाभ दृष्टि पूर्वक कोई भी मानव सामाजिक होना संभव नहीं है, व्यवस्था में जीना अति दुरूह रहता ही है। इसी अवस्था को भ्रमित अवस्था (जीव चेतना) के नाम से स्पष्ट किया गया। जागृतिपूर्वक मानव में न्याय, धर्म, सत्य, दृष्टि विकसित होती है। जागृतिपूर्वक मानव सामाजिक होता है और व्यवस्था में जीता है। हर मानव में, से, के लिये जागृति न्याय, धर्म, सत्य स्वीकृत है और वांछनीय है।

भ्रमवश विभिन्न समुदाय परम्पराएँ अपने-अपने सामुदायिक अहमता के साथ उनके परंपरा में आने वाले संतानों को भ्रमित करने का तरीका खोज रखे हैं। इसलिये हर परंपरा में आने वाले संतान पुनः पुनः भ्रमित होते आए।

यह काम बीसवीं शताब्दी के दसवें दशक तक देखने को मिला। दसवें दशक में **"अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित दृष्टिकोण"** सम्पन्न कुछ लोगों में यह सुस्पष्ट हो गई कि विगत से परम्परा में प्राप्त शिक्षा-संस्कार भ्रम की ओर है। इससे छूटना आवश्यक है। यह सुस्पष्ट हो चुकी है कि मानव का दृष्टिकोण ही, विचार ही हर कार्यों का कारण है। विचारों का कारण दृष्टिकोणों के आधार पर ही निर्भर है। हर दृष्टिकोण मानव जीवन सहज जागृति क्रम, जागृति, जागृति पूर्णता और उसकी निरंतरता पर निर्भर है। इस प्रकार दृष्टि की क्रियाशीलता (न्याय, धर्म, सत्य दृष्टि) जागृति का कारण सह-अस्तित्व ही है। इसी सत्यातावश हर मानव जागृति को प्रमाणित करने योग्य है। अस्तु, अस्तित्व सहज रूप में जागृति को प्रमाणित करना ही मूल कारण है।

- भ्रम = जीव चेतना = प्रिय, हित, लाभ दृष्टि = समस्या = दुख
- जागृति = मानव चेतना = न्याय, धर्म, सत्य दृष्टि = समाधान = सुख = अस्तित्व दर्शन, जीवन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण । अ.व. (234-237)

जागृत जीवन सहज पाँचों बल और पाँचों शक्तियाँ अक्षय रूप में कार्यरत रहते हैं। इनके नित्य कार्यरत रहने में अस्तित्व में कोई बाधक तत्व नहीं है। अपितु अस्तित्व में हर वस्तु जीवन शक्तियों के अक्षय-कार्यकलाप के लिए अनुकूल रूप में ही विद्यमान रहते हैं। जैसे जागृत जीवन सहज कल्पना का अवरोधक तत्व कुछ भी नहीं है और अनुकूल तत्व सब जगह में है।

अनुकूलता इस प्रकार से प्रमाणित होता है कि सभी शुभ कल्पनाएँ जागृतिपूर्वक सफल होना पाया जाता है। अजागृति पर्यन्त प्रमाणित होना संभव नहीं होता है।

जैसे समृद्धि की कल्पना हर व्यक्ति में, हर परिवार में, हर समुदाय में निहित रहना पाया जाता है। यह आवश्यकता से अधिक उत्पादन कार्य से ही सफल होने की सत्यता में जागृत होने के उपरांत ही, समृद्धि सफल होता है।

किसी मुद्दे में जागृति का दूसरा बिन्दु **हर मानव समृद्धि का इच्छुक है। अनुभव करना चाहता है। जबकि समृद्धि जागृत मानव परिवार में ही हो पाता है। एक परिवार समृद्ध होने के लिए एक से अधिक परिवार का समृद्ध रहना अनिवार्य है। इस क्रम में अकेले में समृद्ध होने की कल्पना और संग्रह विधि से अथवा संग्रह कार्यवाही से समृद्धि कल्पना दोनों भ्रम सिद्ध हुआ।** अ.श. (130-131)

अनुभव जीवन में होता है, ना कि शरीर में

जीवन शाश्वत है। यही प्रधान-मुद्दा है। इसे हर मानव समझना चाहता है और हम समझा सकते हैं। अस्तित्व ही वर्तमान सहज होने के कारण जीवन सहज रूप में हर मानव अस्तित्व को स्वीकारा ही रहता है बनाम व्यवस्था को स्वीकारा ही रहता है। इस संक्षेप विधि से ही अस्तित्व सहज स्वीकृति सर्वेक्षित होता है और सत्यापनवादी सर्वेक्षण विधि से हर मानव व्यवस्था को वरना पाया गया है। साथ ही इस दशक में शरीर यात्रा करता हुआ मानव को यह पूछने पर कि आप क्या व्यवस्था को जानते है ? उत्तर नकारात्मक मिलता है। अन्ततोगत्वा अनिश्चियता और अस्थिरता का जनमानस में समावेश होते ही आया है।

अस्थिरता, अनिश्चितावश ही मानव आतुर-कातुर होना, सुविधा संग्रह के लिये और पीड़ित होना भी देखा गया है।

अनुभव जीवन में होता है या शरीर में होता है यही मुख्य बिन्दु है - यह तथ्य विदित हो चुका है - जीवन ही शरीर को जीवन्त बनाए रखता है। जीवन्त शरीर ही जीवन से संचालित होता है। इसी तथ्य-पुष्टि के क्रम में शरीर अपने-आप में कैसा है ? कैसे रचित और विरचित होता है इसे मानव आदिकाल से देखते आ रहा है। मुख्य मुद्दा - परमाणु में विकास, पूरकता, गठनपूर्णता, संक्रमण इन तथ्यों को भले प्रकार से समझ चुके हैं। अतएव इसे समझना हर व्यक्ति के लिये आवश्यक है। चैतन्य प्रकृति, जड़ प्रकृति यह प्रकृति समुच्चय है। जड़ प्रकृति रासायनिक-भौतिक वस्तु व द्रव्यों से संरचित रहते हैं। यह रचना-विरचना का स्रोत यह धरती ही है। स्वयं धरती भी एक रचना है।

इस धरती पर जब तक विकास दिखती रहती है तब तक इसके स्वस्थता में कोई शंका नहीं है। विकास और उसकी निरंतरता की व्यवस्था अस्तित्व सहज रूप में विद्यमान है।

पदार्थावस्था और प्राणावस्था की सम्पूर्ण रचना-विरचनाएँ परिणाम और बीज के आधार पर परंपरा के रूप में तत्पर रहना देखा जाता है। इसी आधार पर हर मानव अस्तित्व में अनुभूत होने की सूत्र जुड़ी हुई हैं। मानव शरीर द्वारा जीवन सहज पूर्ण जागृति प्रमाणित होने की व्यवस्था, आवश्यकता अस्तित्व सहज रूप में ही निहित है क्योंकि **अस्तित्व स्थिर है, विकास एवम् जागृति निश्चित है**।

जागृति को प्रमाणित करना जीवनापेक्षा है। जागृति सुख, शांति, संतोष, आनन्द है। इसे भले प्रकार से देखा गया है।

इसकी जीवन सहज निरंतरता होती है क्योंकि जीवन नित्य है। जीवन सहज जागृति अक्षुण्ण (निरंतर) होना भावी है। ऐसी जागृति और जागृति की अक्षुण्णता की प्यास हर व्यक्ति में निहित है। अतएव जीवन जागृति प्रणाली को परंपरा में अपनाना एक अनिवार्यता हैं। जीवन अपने में अनुभव, बोध, चिन्तन (साक्षात्कार) सहित ही किया गया चित्रण, विश्लेषण, तुलन, चयन और आस्वादन स्वाभाविक रूप में न्यायिक समाधानपूर्ण और प्रामाणिकता सहज अभिव्यक्ति, संप्रेषणा, प्रकाशन सहज कार्य-व्यवहार होना देखा गया है। अ.व. (57-59)

अनुभव सम्पन्न जीवन से ही जीवन सहज अभिव्यक्ति है। जबकि भ्रम भी 'जीवन-भ्रम' के आधार पर ही होना देखा गया है। अनुभव और जागृति, जीवन तृप्ति की अभिव्यक्ति होना पाया जाता है जबकि भ्रम अतृप्ति का ही द्योतक होना देखा

गया। भ्रमित होने का, रहने का, कार्य करने का मूल रूप जीवन ही है। शरीर को जीवन समझने के आधार पर भ्रम है। जीवन को स्वत्व के रूप में समझ लेना और उसकी अभिव्यक्ति में जीवन जागृति प्रमाणित रहना ही अनुभव सहज प्रमाण एवम् जागृति है। अतएव यह स्पष्ट हुआ जीवन ही भ्रमित, जीवन ही जागृत होना नियति सहज क्रिया है।

भ्रमित स्थिति में मानवीयता के विपरीत, जीवों के सदृश्य (प्रिय, हित, लाभ प्रवृत्ति) जीना देखने को मिलता है।

जबकि मानव सहज मौलिकता मानवीयता ही है। जागृति सहज विधि से मानवीयता स्वयं-स्फूर्त विधि से प्रमाणित होती है। यही जागृति और भ्रम मुक्ति सहज प्रमाण है। इसी के आधार पर मानवीयतापूर्वक व्यवस्था में जीना बनता है, भ्रम पूर्वक अमानवीयता अर्थात् पशु मानव एवम् राक्षस मानव के रूप में जीना आंकलित होता है, जबकि हर व्यक्ति मानवीयता से परिपूर्ण होकर जीना चाहता है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर आते हैं परंपरा जागृत होने की आवश्यकता है क्योंकि हर मानव संतान किसी अभिभावक के कोख में होता ही है।

इसके उपरांत किसी धर्म संस्थान, राज्य संस्थान और किसी शिक्षा संस्थान में अर्पित होता ही है। यही संस्थाएँ जागृति का धारक-वाहक होने पर जागृत परंपरा है अन्यथा भ्रमित परंपरा है ही। जागृति सबका वर है। जागृति का स्वरूप है स्वयं व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी, दूसरे विधि से मानवीयतापूर्ण आचरण जागृति है और तीसरे विधि से परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था में जीना जागृति है। इंगित किये गये तथ्यों और उनके विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जीवन ही भ्रमित रहता है, जीवन ही जागृत रहता है। जीवन जागृति और भ्रम का स्त्रोत प्रधानत: मानव परंपरा ही है। परंपरा स्वयं जागृत रहने की स्थिति में जागृति का लोकव्यापीकरण होता है।

भ्रमित परंपरा होने की स्थिति में भ्रम का ही लोकव्यापीकरण होता है। इस दशक तक यही हाथ लगा है।

ऐसे स्थिति में भी किसी न किसी मानव में अनुसंधानिक आवश्यकता उत्पन्न होकर स्वयं जागृत होने के उपरांत जागृत परंपरा के लिए स्त्रोत बन जाता है। भ्रमात्मक विधि से भी चित्रण-विश्लेषण के आधार पर बहुत अनुसंधान हुए हैं। जबकि जागृति सहज अनुसंधान मानव, मानव व्यवस्था मानव संचेतना सहज विधि से प्रस्तावित होना परंपरा में स्वीकृत होना, लोकव्यापीकरण होना एक आवश्यकीय स्थिति रही। अ.व. (76-83)

जागृति की अनिवर्तया

मानव जागृत होकर ही सुखी, समृद्ध तथा सुन्दरतम रूप में दिखाई पड़ता हैं। प्रत्येक मानव सुखी, समाधानित, समृद्ध और सुन्दर रहना ही चाहता है। परंपरा की अजागृति के कारण ही अथवा जागृति पूर्ण न होने के फलस्वरुप ही मानव कुंठा और अभाव से ग्रसित रहता है। यह मानव परंपरा सहज जागृति क्रम में पाये जाने वाले मानव की स्थिति हैं। भ. व. (113)

अस्तित्व में अनुभव ही परम प्रमाण के रूप में सर्वतोमुखी समाधान सहज विधि से प्रमाणित होता है। हर व्यक्ति जागृतिपूर्वक इसे प्रमाणित कर सकता है। इसकी आवश्यकता सब में विद्यमान है यही सार्वभौम व्यवस्था अखण्ड समाज है। इसके विपरीत यह मानना सर्वथा भ्रम है कि समाधान अपना-अपना और सत्य अपना-अपना होता है। अ.व. (108)

जागृति में संक्रमित होने के उपरान्त मानव में मानवीय व्यवस्था उदय होना पाया जाता है। उसके पहले जागृति क्रम में रहते हुए अमानवीय विधि से अर्थात जीवो के सदृश्य रहते है। अव्यवस्था के चपेट में आ जाते है। यही समस्या से घिर जाने का तात्पर्य है। जागृति के अनन्तर ही मानव और मानवीयता की अविभाज्य वर्तमानता तथा शरीर और जीवन के संयुक्त प्रकाशन में मानव परम्परा होने अर्थात विवेक और विज्ञान सम्पन्न हो पाते हैं। हर मानव जागृत होने योग्य है प्रकारान्तर से हर मानव जागृति को ही सम्मान कर पाता है।

समाधान अपेक्षा मानसिकता और रोग मुक्त शरीर और उसे बनाए रखना ही मानव में स्वस्थता का तात्पर्य है। यह जागृत विधि से ही सफल है। मानव ही जागृतिपूर्वक धरती का संतुलन को बनाए रख पाता है। भ्रमित होकर धरती के साथ सारा अत्याचार किया। इसका एक उपाय जागृत होना ही है। जागृति अपने आप से लोकव्यापीकरण होना पाया जाता है। ज.व. (138-140)

हर व्यक्ति समृद्धि, समाधान, अभय, सह-अस्तित्वशील रहना चाहता ही है। यही सर्व जनमानस का शुभेच्छा है। इन शुभेच्छाओं के आधार पर ही एक दूसरे से अपेक्षा भी करता है। उल्लेखनीय घटना यही है सर्वमानव शुभ चाहते हुए भी भ्रम से ग्रसित हो जाता है।

इसी भ्रमवश ज्यादा और कम वाला भूत भय और प्रलोभन के आधार पर ही बन बैठा है। इसका निराकरण, तृप्ति स्थली को परम्परा में पहचानना ही है, निर्वाह करना ही है। जानना-मानना ही है।

इसके तृप्ति स्थली को हर मानव इस प्रकार देख सकता है और जी सकता है कि स्वयं में विश्वास, श्रेष्ठता के प्रति सम्मान, प्रतिभा और व्यक्तित्व में संतुलन, व्यवसाय (उत्पादन) में स्वावलंबी, व्यवहार में सामाजिक होने के उपरांत व्यक्ति स्वायत्त होता है और परिवार मानव के रूप में प्रमाणित होता है। यही वांछित, आवश्यकीय, सार्वभौम मानव का स्वरूप और गति स्पष्ट हो जाती है। अ.श. (180-182)

इस प्रकार हम पाते हैं कि:-

1. अस्तित्व में विकास होता है।
2. विकसित गठनपूर्ण परमाणु जीवन पद में संक्रमित रहता है।
3. प्रत्येक गठन पूर्ण परमाणु (तृप्त परमाणु) चैतन्य पद में संक्रमित होता है।
4. प्रत्येक चैतन्य इकाई अर्थात "जीवन" भार बंधन, अणु बंधन से मुक्त होता है।
5. प्रत्येक जीवन, जागृत होने के क्रम में आशा बंधन, विचार बंधन, इच्छा बंधन से पीड़ित रहता है। ऐसा पीड़ित होना ही भ्रम है। इसके विपरीत जागृत होना मानव में न्याय अर्थात् संबंधों का पहचान, मूल्यों का निर्वाह, मूल्यांकन क्रियाओं को परंपराओं में प्रमाणित करना जागृति है।
6. सर्वतोमुखी समाधान अर्थात स्वयं व्यवस्थित व्यवस्था होना और समग्र व्यवस्था में भागीदारी को निर्वाह करने का कार्य-कलाप के रूप में प्रमाणित करना जागृति है।
7. मानव का अस्तित्व में अनुभूत होने के प्रमाणों को प्रमाणित करना और स्वानुशासन रूप में जीने की कला को प्रमाणित करना परम जागृति है। इस प्रकार मानव परंपरा जागृति में, से, के लिए- यह स्पष्ट है।

भ. व. (111-113)

अध्याय 3 : मानव-मानव संबंध में व्यवस्था

3.1 संबंध एवं आचरण – आधार

3.1.1 संबंध परिचय – दायित्व, कर्तव्य और व्यवहार

मानव परम्परा के अतिरिक्त और सभी अवस्था के यथा जीवावस्था, प्राणावस्था, पदार्थावस्था में प्रत्येक एक-एक समुदाय अपने-अपने जाति के अनुसार आचरण करता हुआ देखने को मिलता है यही "त्व" सहित अवस्था, समग्र व्यवस्था में भागीदारी का सूत्र है (जैसे गायत्व, नीमत्व, लोहत्व)। मानवेत्तर प्रकृति में हर जाति अपने-अपने समुदाय के रूप में मौलिक है क्योंकि व्यवस्था सूत्र से सूत्रित है। मानव को अखंड जाति के रूप में प्रदिपादित संबोधित करने के क्रम में यह शास्त्र है। मानव जब मानवत्व को पहचानता है, स्वीकारता है, निश्चय करता है तभी जागृति के प्रमाण के रूप में स्वंय में व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी करता है। म.वि. (171)

सम्बन्धों को पहचानना ही संस्कार है। ऐसे सम्बन्ध अस्तित्व सम्बन्ध, मानव सम्बन्ध और नैसर्गिक सम्बन्ध के रूप में जानना और पहचानना जागृत मानव में स्वाभाविक क्रिया है। अस्तित्व सम्बन्ध सह-अस्तित्व के रूप में, नैसर्गिक सम्बन्ध जल, वायु, वन, धरती के रूप में, मानव सम्बन्ध अखण्ड समाज - सार्वभौम व्यवस्था के अर्थ में सम्बन्धों को पहचानना एक आवश्यकता है। व्य. श. (284-)

समाज का आधार परिवार है। परिवार के बिना मानव की पहचान होती नहीं है। हर मानव किसी परिवार का अंगभूत होना पाया जाता है। इसके अलावा कोई पहचान भी नहीं होती है। किसी संस्था में भागीदारी भी परिवार संस्था में भागीदारी है तभी व्यक्ति की पहचान हो पाती है। ज.व. (169-)

व्यवहार में सार्थक होने के लिए संवाद में इस तथ्य को पहचाना जा सकता है कि परस्परता में ही "व्यवहार" होता है और प्राकृतिक ऐश्वर्य और मानव की परस्परता में ही "उत्पादन कार्य" सम्पन्न होता है। व्यवहार कार्यकलाप में, उत्पादन कार्यकलाप में अनेकानेक विधाएँ जनसंवाद के लिए विषय बन जाती हैं। सबंध एक मुद्दा है यह सहअस्तित्व में ही प्रमाणित होना पाया जाता है। धरती, हवा, पानी, जंगल, पहाड़ वन, वनस्पति, अन्न, औषधियो के साथ, परस्पर, सहअस्तित्व होना पाया जाता है।

मानव का मानव के परस्परता में व्यवहार होता है। व्यवहार में संबंधो को पहचानना होता ही है। इन संबंधो को पहचानने के रूप में कम से कम विश्वास मूल्य प्रमाणित होना एक स्वाभाविक उपलब्धि है, प्रक्रिया है।

विश्वास होने के आधार पर आरंभ होते हुए प्रयोजनो को, लक्ष्यो को और प्रक्रियाओं को पहचानने के अर्थ मे हर संवाद सार्थक होता है। मानव सम्बंधो में ही कृतज्ञता, गौरव, श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, वात्सल्य, ममता, सम्मान, स्नेह सार्थक होते है। ये सब अभ्युदय के अर्थ में ही प्रयोजनशील होना पाया जाता है। अभ्युदय स्वयं में सर्वोतोमुखी समाधान है। मानव ही इसका धारक वाहक है। संबंधो मे ही इसका प्रमाण होना शाश्वत सत्य है। इसी आधार पर मानव परिवार से अखण्ड समाज तक समाधान सूत्र को फैला पाते है। यही व्यवहारात्मक जनवाद का प्राण तत्व है।

हर व्यक्ति व्यवहार प्रवृति में रहता है क्योंकि किसी न किसी मानव के साथ जीना है।

मानव में होने वाले कुछ भी कार्यकलापो के अनन्तर अर्थात मानवेत्तर प्रकृति के साथ किया गया सभी कार्यकलाप के अनन्तर जीने का पहचान मानव के साथ ही सार्थक होता है। जीव जानवरो के साथ कितने भी हम प्यार से अथवा नाराजगी

से, अपने मनमानी विधि से कर ले मानव के साथ ही हमे जीना होता है। अन्ततोगत्वा मानव के साथ मानव जागृतिपूर्वक नियम, मर्यादा, सम्मानो के साथ अपनी पहचान बना लेता है। ज.व. (67-69)

भ्रमित संसार में भी हर व्यक्ति एक दूसरे की नसजाल को जानते ही है अथवा हर बात को पहचानते रहते है। भ्रमित मानव परिवार में हर व्यक्ति एक दूसरे के दोषो को भी पहचाने रहते है। ऐसे पहचानने के आधार पर एक दूसरे के प्रति विश्वास पूर्ण विधि नहीं बन पाती है। एक छत के तले अवश्य ही रहते है। इस दूभरता में घुटन बनी ही रहती है। परस्परता में अविश्वास बढ़ता जाता है। अविश्वास के कारण अपने अधिकारों को वस्तु केन्द्रित किये जाना एक विवशता बन जाती है। ऐसी विवशता एक दूसरे के बीच खाई का काम करती है। फलस्वरूप असन्तुष्टि का विस्तार होता ही जाता है।

जितना ज्यादा असन्तुष्टि का विस्तार होता है उतना ही ज्यादा संग्रह सुविधा पर स्वामित्व को पाने का प्रयत्न होना पाया जाता है। फलस्वरूप व्यक्तिवादिता उभर जाती है।

परिवार में सुखी होने के लिए जीने की शुरुआत करते है। इसके विपरीत व्यक्तिवादिता में पहुँच जाते है यही संपूर्ण समस्या का कारण है। भ्रमवश अकेलापन सदा विरोध अथवा भय के स्वरूप में ही गण्य होता है। अकेलेपन से मुक्ति तभी हो पाती है जब परस्परता में विश्वास हो। कहीं न कहीं मानव अतिरिक्त विश्वास के लिए तड़पता है चाहे जीव जानवर के साथ ही क्यों न हो। इसकी कोई चिन्हित पहचान नहीं हो पाती है इसलिए बारंबार विश्वास का आधार बदलता है। और बदलते बदलते थकना भी कहीं हो जाता है। पुन: किसी अज्ञात व्यक्ति के साथ विश्वास सूत्र को जोड़ने का प्रयास भी करता है। मानव परंपरा भ्रमजाल में यथावत बनी हुई ही है। क्योंकि सर्वमानव में समझदारी सुलभ हुई नहीं है। मानव लक्ष्य जीवन लक्ष्य का प्रमाण लोकव्यापीकरण हुआ नहीं है।

यही मुख्य मुद्दा है इसी विफलता के आधार पर सर्वभौम व्यवस्था अखंड समाज बना नहीं है। यही संकट आज के लिए समस्त प्रकार की समस्या का कारण है। इसी भ्रमवश हर मानव भय प्रलोभन और समस्याओ के लिए स्रोत बना हुआ है। इससे छूटने से ही मानव कुल का कल्याण है। ज.व. (193-195)

दायित्व - कर्तव्य

मानव का साध्य वस्तु जागृति है। सहअस्तित्व कोई रहस्य या संघर्ष नहीं है। सहज रूप में, सर्वमानव को समझ में आने वाला और सर्वमानव से आशित वस्तु है। क्योंकि हर मानव किसी की परस्परता में ही जीना और सुख पाना चाहता है। इस विधि से सहअस्तित्व की महिमा समझ में आता है। साथ में जीने के क्रम में, सर्वप्रथम मानव ही सामने दिखाई पड़ता है। ऐसे मानव किसी न किसी सम्बन्ध में ही स्वीकृत रहता है। सर्वप्रथम मानव, माँ के रूप में और तुरंत बाद पिता के रूप में, इसके अनन्तर भाई-बहन, मित्र, गुरु, आचार्य, बुजुर्ग उन्हीं के सदृश्य और अड़ोस-पड़ोस में और भी समान संबंध परंपरा में है हीं।

जीने के क्रम में, संबंध के अलावा दूसरा कोई चीज स्पष्ट नहें हो पाता है। संबंधों के आधार पर ही परस्परता, प्रयोजनों के अर्थ में पहचान, निर्वाह होना पाया जाता है। इस विधि से पहचानने के बिना निर्वाह, निर्वाह के बिना पहचानना संभव ही नहीं है।

इसमें यह पता लगता है कि प्रयोजन हमारी वांछित उपलब्धि है। प्रयोजनों के लिए संबंध और निर्वाह करना एक अवश्यंभावी स्थिति है, इसी को हम दायित्व, कर्त्तव्य नाम दिया। सम्बन्धों के साथ दायित्व और कर्त्तव्य अपने आप से स्वयं स्फूर्त होना सहज है। कर्त्तव्य का तात्पर्य क्या, कैसा करना, इसका सुनिश्चियन होना कर्त्तव्य है। क्या पाना है, कैसे पाना है, इसका सुनिश्चियन और उसमें प्रवृत्ति होना दायित्व कहलाता है। हर संबंधों में पाने का तथ्य सुनिश्चित होना और पाने के लिए कैसा, क्या करना है, यह सुनिश्चित करना, ये एक दूसरे से जुड़ी हुई कड़ी है। ये स्वयं स्फूर्त विधि से, सर्वाधिक संबंधों में निर्वाह

करना बनता है। जागृति के अनन्तर ही ऐसा चरितार्थ होना (आचरण में आना) स्पष्ट होता है। भ्रमित अवस्था में संबंधों का प्रयोजन, लक्ष्य स्पष्ट नहीं होता है।

भ्रमित परम्परा में सर्वाधिक रूप में संवेदनशील प्रवृत्तियों (संवेदना – शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, इंद्रिय तृप्ति) के आधार पर, सुविधा संग्रह के आधार पर और संघर्ष के आधार पर संबंधों को पहचानना होता है।

सुदूर विगत से इन्हीं नजरियों को झेला हुआ मानव परम्परा मनः स्वस्थता के पक्ष में वीरान निकल गया। जबकि सहअस्तित्व वादी विधि से मनःस्वस्थता की संभावना, सर्वमानव के लिए समीचीन, सुलभ होना पाया जाता है। इसी तारतम्य में हम सभी संबंधों को सार्थकता के अर्थ में, प्रयोजनों के अर्थ में और संज्ञानीयता पूर्ण प्रयोजन के अर्थ में पहचान पाते हैं। इसका स्पष्ट रूप सार्वभौम व्यवस्था अखण्ड समाज के रूप में, इसका स्पष्ट रूप मानवाकाँक्षा; जीवनाकाँक्षा प्रमाणों के अर्थ में स्वीकार सहित और मूल्यांकन सहित कार्य व्यवहार और व्यवस्था और आचरणों को परिवर्तन कर लेना ही सहअस्तित्व वादी ज्ञान, विज्ञान और विवेक का फलन होना पाया जाता है।

मानवाकांक्षा - समाधान, समृद्धि, अभय सह-अस्तित्व सहज प्रमाण।

जीवनाकांक्षा - सुख, शांति, संतोष आनंद के रूप में गण्य है। क.द. (203-210)

संबंध से परिवार, परिवार से समाज

मानव के साथ व्यवहार जुड़ा ही रहता है। व्यवहार सदा-सदा से मानव के साथ ध्रुवीकृत होता आया है। चाहे नकारात्मक हो चाहे सकारात्मक हो मानव अपनी परस्परता में व्यवहार करना सर्वस्वीकृत हो चुका है। मानव परम्परा में व्यवहार परस्परता में मूल्यों का निर्वाह करने के आधार पर ही प्रमाणित होता है। मूल्यों का निर्वाह संबंधो के आधार पर होना सर्वमानव को स्वीकृत है। मानव मानव के साथ सम्बन्धो को पहचानने की प्रवृति शिशु काल से ही निर्धारित है। यह शब्दो के रूप में सबको स्पष्ट है। मूल्यो के रूप में पहचान और उसकी निरन्तरता की आवश्यकता बनती है।

सम्बन्ध, उसकी पहचान और निरन्तरता ही विश्वास है। इस परिभाषा के आधार पर सभी सम्बन्धो के साथ संवाद अपेक्षित रहता है। हर संवाद की सार्थकता में समाधान है। संवाद की सार्थकता क्यो, कैसे, कितना का उत्तर पाने में ही है।

संबंध की परिभाषा ही है "पूर्णता के अर्थ में अनुबंधित रहना" ऐसे सम्बन्ध का स्वरूप निरन्तरता में ही वैभव और प्रयोजन प्रमाणित होना पाया जाता है। प्रयोजन मूलत: सहअस्तित्व में नित्य प्रमाण ही है। यही जागृति, वर्तमान में विश्वास (परस्परता में भय, शंका मुक्ति) और समाधान होना स्वाभाविक है। इन तीनो विधाओं के आधार पर अथवा इन तीनो विधाओ में प्रमाण होने के उपरान्त समृद्ध होना एक आवश्यकता, सम्भावना और इस हेतु प्रयास होना स्वाभाविक स्वयं स्फूर्त है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि **हम मानव समझदारी पूर्वक ही समाधानित होते हैं और वर्तमान में विश्वास अर्थात सम्बन्ध की पहचान और उसकी निरन्तरता बनाए रखने में निष्ठा ईमानदारी होने का प्रमाण है**। पहचान और उसकी निरन्तरता स्वयं जिम्मेदारी के रूप में स्पष्ट होती है।

इस प्रकार समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी पूर्वक ही परिवार व्यवस्था में प्रमाण और समग्र व्यवस्था में भागीदारी होना और समृद्धि का साक्ष्य स्पष्ट होना पाया जाता है। इसके लिए परिवार में चर्चा, परिवार के कार्य-व्यवहार के लिए चर्चा, संवाद और परिवार लक्ष्य के लिए संवाद मानव परम्परा में सम्पन्न होना एक प्रतिष्ठा है।

हर मानव निश्चयता, निरन्तरता, अक्षुण्णता को स्वीकारता है। यह संवाद का एक मुद्दा है। हर निश्चयता क्यो, कैसे, कितना की कसौटी पर निर्धारित होती है। अत्याधुनिक युग में बेहतरीन जिन्दगी का नारा है। जो संग्रह-सुविधा पर आधारित है। संग्रह-सुविधा का तृप्ति बिन्दु नहीं है। प्राचीन अर्वाचीन स्वीकृतियाँ भक्ति-विरक्ति को बेहतरीन जिन्दगी मानी गई थी। इन दोनो नजरियों का व्यक्तिवाद में व रहस्य में अन्त होना सिद्ध किया जा चुका है।

व्यक्तिवाद ना तो परिवार व्यवस्था का आधार है, ना ही समुदाय व्यवस्था का आधार, समाज व्यवस्था तो कोसो दूर है। जबकि मानव समझदारी, मानवाकांक्षा, सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी पूर्वक वैभवित होता हुआ स्थिति में अखण्ड समाज में प्रमाणित हो जाता है।

व्यवस्था सार्वभौम होने के आधार पर ही अखंड समाज, अखंड समाज के आधार पर ही सार्वभौम व्यवस्था प्रमाणित होना पाया जाता है। **प्रत्येक परिवार, अखण्ड समाह के अंतर्गत ही सार्थक होता है, प्रत्येक परिवार व्यवस्था सार्वभौम व्यवस्था के अंगभूत ही रहता है।** अभी तक जितने भी समुदाय, समाज के नाम से प्रस्तुत हुआ, उन सब में अन्तर्विरोध बना ही है। परस्पर समुदायों में विरोध, विद्रोह, सामरिक कल्पनाएँ बनी हुई है। यह सार्वभौम व्यवस्था व अखंडता का विरोधी है। जबकि हर समुदाय अखंडता, सार्वभौमता, अक्षुण्णता (निरन्तरता) को अवश्य स्वीकारा रहता है। ऐसी स्वीकृतियो के साथ जीता हुआ मानव अपने में से बनायी हुई मान्यताओं के प्रयोजन को पहचानना चाहता ही है। साथ में सर्वाधिक विरोधी तत्व, धर्म और राज्य कहलाने वाली परम्परा ही है।

हर मानव अपने में जागृति की ओर गतिशील होने के लिए सार्वभौम, अखंडता सूत्र बनी हुई है। जबकि धर्म और राज्य समुदाय गति विधि से अखंडता का नारा बताया करते हैं। ऐसा कोई समुदाय धर्म नहीं है, जो अपने को सर्वश्रेष्ठ नहीं बताता और अपने कार्यक्रमो को सार्वभौम नहीं बताता अथवा सबकी जरूरत नहीं बताता। ज.व. (71-75)

मानवत्व ही मानव का पहचान

जैसा परमाणु अंश एक दूसरे को पहचाने बिना व्यवस्था में नहीं होता है, वैसे ही मानव मानव को पहचाने बिना व्यवस्था में जीना होता ही नहीं। मानव को पहचानने का एक ही सूत्र है - मानवत्व। **मानवत्व मानव चेतना ही है, जो सर्व मानव को मानव के रूप में पहचाना जा सकता है**। मानवत्व अपने स्वरूप में मानव परिभाषा का स्वरूप ही है। मनः स्वस्थता के अर्थ में ही सह-अस्तित्ववादी विधि से विज्ञान विधा से भी मनःस्वस्थता का सूत्र रूप विश्लेषित और निर्धारित व्याख्यायित है। ऐसा निर्धारण, मानव लक्ष्य के अर्थ में ही होना आवश्यक है।

इसी क्रम में सहअस्तित्व वादी विधि से हम समझ चुके हैं कि मानव को अपनी आवश्यकता को सुदृढ़ रूप में पहचानने की आवश्यकता है ही।

इस आवश्यकता की निश्चयता अर्थात् मानवीयतापूर्ण आवश्यकता की निश्चयता-समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व रूपी मानवत्व को प्रमाणित करने के रूप में होना पाया जाता है। इसका मतलब यही है कि हम मानव, मानवीय लक्ष्य को प्रमाणित करने के क्रम में ही, मानवीयता पूर्ण आचरण को स्पष्ट कर पाते हैं। मानवीय आवश्यकता निर्धारित होना, जानने-मानने का द्योतक है। जानना-मानना ही प्रमाणित होने का आचरण ही सूत्र व्याख्या है। मात्रा सिद्धान्त भी मूल में इन्हीं अर्थों से अनुप्राणित रहना स्वभाविक है। इसलिए एक से अधिक अंश एकत्रित होकर कार्य करते हुए, अर्थात् आचरण करते हुए, परमाणुओं की अनेक प्रजातियाँ उनके आचरण के आधार पर पहचानने योग्य रहती हैं। इसे मानव पहचानता है, मानव सहज अर्हता की यह गरिमामय स्थिति बनती है। इसके मूल में जानना, मानना का पुट ही रहता है।

इसी प्रकार प्राणकोषाओं से रचित रचनाओं में भी प्राणकोषाओं का रचना निश्चित रहना होता है। इसका प्रमाण ही है अनेक प्रजातियों की वनस्पतियों की रचना, इन सब में बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज तक अनुप्राणित रहना अर्थात् एक बीज से वृक्ष तक प्रेरणाएँ, वृक्ष से बीज तक प्रेरणायें, उन्हीं बीज वृक्ष में समायी रहती हैं।

इन्हीं उभय प्रकार की प्रेरणा में उन प्रजाति के वृक्षों के आवश्यकता को स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार हम मानव किसी भी वस्तु को सुदृढ़ रूप में पहचानते हैं, उसका आधार सुदृढ़ आवश्यकता ही रहता है। इसी प्रकार चींटी से हाथी तक, कुत्ते से बिल्ली तक, गाय, बाघ, मुर्गी, कीट आदि के आचरण के बारे में मानव आश्वस्त हो गया है। इन इन का आचरण निश्चित पाया जाता है। **निश्चित आचरण के आधार पर विश्वास होता है, निश्चितता होती है।** जब उसी क्रम में मानव, मानव को पहचानने की स्थिति में आते हैं, तब हम संदिग्धता को महसूस करते हैं कि हम पहचान पा रहे हैं कि नहीं।

इस संदिग्धता के लिए मानव परंपरा में जातिगत, विचारगत, संप्रदायगत, पद और पैसा से संबंधित विधि से विवाद बना रहता है। फलस्वरूप द्रोह, विद्रोह, शोषण, युद्ध प्रभावशील है। प्रभावशील होने का तात्पर्य ये दुर्घटनायें घटित होती रहती हैं।

मानव अपने को यदि मात्रा ही माने, तब भी क्या मानव की आवश्यकता स्पष्ट हुई है ? केवल मात्रा ही मानकर सोचने पर भी ऐसा लगता है, हम मानव स्वयं की आवश्यकता को निर्धारित नहीं कर पाये इसी कारण आवश्यकता अनिश्चित बनी रही और आवश्यकता के आधार पर भी हम व्यवस्था की सार्वभौमिकता को, उसके ध्रुवों को पहचान नहीं पाये। मानवत्व का एक ध्रुव मानव अपने आवश्यकता ही है, जो व्यवहार में, उत्पादन कार्य में समाधान पूर्वक व्यवस्था में भागीदारी करने के रूप में प्रमाणित होता है। मानव आवश्यकता स्वयं में सुस्पष्ट है - समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व। इसका प्रमाण मूल्य, चरित्र, नैतिकता रूपी मानवीय आचरण पूर्वक सफल होता है।

इसको प्रयोग करके देखा गया। यह आदर्शवाद व भौतिकवाद विधि से प्रमाणित होता नहीं।

इसलिए यही अर्थात् सह-अस्तित्ववादी विधि से मानव लक्ष्य और आचरण अध्ययन सुलभ है। इसे सार्वभौम रूप से अथवा सर्वमानव में सफल करना ही अथवा होना ही जागृत मानव परम्परा का वैभव है। मूल्य, चरित्र, नैतिकता को प्रमाणित करने के रूप में मानव अपने से कुछ न कुछ करता ही रहा है। क्यों न ऐसा सोचा जाय कि मानव आवश्यकता के अर्थ में यह सब करना हो जाय। ऐसा निश्चय हर व्यक्ति कर सकता है।

किसी आयु के अनंतर ऐसा निश्चय होने की आवश्यकता महसूस होती हुई भी देखने को मिलती है।

सर्वाधिक मानव 12-14 वर्ष के आयु से 20 वर्ष के बीच सर्वाधिक रूप में, सर्वाधिक मानसिकता के रूप में समाज में न्याय, सबके अनुकूल व्यवस्था, सबको सुख मिलने की अपेक्षा, ये बनाये रहता है। परन्तु, इस मानसिकता की, किसी खेमें से जुड़कर शनैः-शनैः हत्या हो जाती है अर्थात् ये कुंठित हो जाते हैं। इसके बाद यही शेष रह जाता है, जिस संप्रदाय वर्ग मानसिकता से प्रतिबद्ध रहते हैं, अथवा माने रहते हैं उसी को हम सही मान लेते हैं, उचित मान लेते हैं। फलस्वरूप, परस्परता में द्रोह विद्रोह वाली शोषण युद्ध वाली बातों में तुल जाते हैं।

सर्वमानव किसी आयु में सर्वाधिक लोगों के लिए अर्थात् सर्वमानव में शुभ चाहते रहे, इसके पुष्टि में सह अस्तित्व रूपी अध्ययन में इसकी संभावना सुलभ हुई है।

अभी एक ही मानव, किसी आयु तक सबका अथवा ज्यादा लोगों का सुख चाहता और कुछ अधिक आयु के अनन्तर अपने परिवार, स्वयं की सुविधा संग्रह पर तुल जाने के रूप में देखने को मिलता है। इनमें सन्तुलन स्थापित करने के लिए मध्यस्थ दर्शन (सह-अस्तित्ववाद) के अनुसार चेतना विकास मूल्य शिक्षा सुलभ अर्थात् सह-अस्तित्ववादी शिक्षा का लोकव्यापीकरण करने की आवश्यकता है। चारो अवस्था में संतुलित बिन्दु में लाने के लिए सहअस्तित्ववादी विधि को अपनाना ही होगा। क.द. (119-122)

3.1.2 मानवीय स्वभाव, व्यवहार के नियम

मानव स्वभाव

मानव की मौलिकता (स्वभाव), मानवीयता ही होना एक उद्गार बन जाता हैं। इसे तात्विक रूप में और अस्तित्व सहज विधि से परीक्षण, निरीक्षण और सर्वेक्षण करने से यह स्पष्ट होता है कि “अस्तित्व में प्रत्येक एक अपने ‘त्व’ सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार हैं।” इसी क्रम में मानव का, मानवत्व सहित व्यवस्था होना कल्पना सहज भाषा है। कल्पना सहज अपेक्षा है। व्यवहार सहज अपेक्षा इन अपेक्षाओं के अनुरुप में प्रयास होना एक स्वाभाविक प्रवर्तन और प्रयास है। इसी क्रम में मानव मानवत्व को सहज रूप में पहचान सकता है।

मानव का अध्ययन, विधिवत् करने पर पता चलता हैं कि मानव (चैतन्य) जीवन और (जड़) शरीर के संयुक्त रूप में हैं।

जीवन जागृति पूर्वक तृप्त होता हैं। तब मानवीयता अपने आप व्यवहार में प्रमाणित होती हैं। अजागृति की स्थिति में जो मानव भ्रमवश व्यक्त होता है; वह अतिव्याप्ति, अनाव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों के रूप में मूल्यांकित होता है। इस प्रकार मानव अजागृतिवश जिन स्वभावों को व्यक्त करता है, उसका स्वरुप निम्न तीन प्रकारों से गण्य होता है-

1. **दीनता**- यह अभाव, अक्षमतावश प्रताड़ित रूप में देखने को मिलता है।
2. **विश्वासघात** - जो छल, कपट, दंभ, पाखंड है।
3. **क्रूरता-** यह परधन, पर-नारी, पर-पुरुष और पर-पीड़ा के रूप में देखने को मिलता है। यही अमानवीयता का स्वरुप हैं। यह भ्रमवश ही होने वाला प्रकाशन है।

मानवीयता मानव का स्वभाव है। यह जागृतिपूर्वक व्यक्त हो पाता है। जीवन ही जागृत होता है। व्यक्त करने वाला मानव ही हैं। यह तीन प्रकार से सार्थक होना पाया जाता है-

1. **धीरता :-** यह न्याय के प्रति निष्ठा, दृढ़ता और विश्वास के रूप में दिखाई पड़ता है। यह सब आचरण में प्रमाणित होते हैं। न्याय का मूल स्वरुप जो मानव में दिखाई पड़ता है, यह संबंधों की पहचान और मूल्यों का निर्वाह है। संबंध परस्परता में रहता ही है, उसे पहचानना जागृति हैं। निर्वाह करना निष्ठा है। मूल्यांकन करना व्यवस्था सहज गति है।
2. **वीरता**:- यह धीरता सहज रूप में जो अभिव्यक्तियाँ होती हैं, वे रहते हुए दूसरों को न्याय सुलभ कराने में, अपने तन-मन-धन को नियोजन करता है।
3. **उदारता:-** यह जागृत सहज रूप में हैं। अविकसित के विकास में, संबंधों को निर्वाह करने में, श्रेष्ठता को सम्मान करने में, परिवार; ग्राम परिवार; विश्व परिवार की उपयोगिता-सदुपयोगिता विधि से तन-मन-धन रुपी अर्थ को सदुपयोग सुरक्षा करते हैं। इस प्रकार धीरता, वीरता, उदारता मानवीय स्वभाव के रूप में देखने को मिलता है।

आज भी किसी-किसी व्यक्ति में इसे सर्वेक्षित किया जा सकता है। इसे सर्व जन सुलभ करने की योजना और कार्य के लिए प्रयास कर सकते हैं। इस प्रकार मानव सहज मानवीयता पूर्ण स्वभाव सहज रूप में ही मौलिकता हैं। ऐसी मौलिकता प्रत्येक नर-नारी में जीता-जागता मिलने के लिए व्यावहारिकता में प्रमाणित होने के लिए, परम्परा जागृत रहना एक अनिवार्य स्थिति है। ऐसे मानव सहज मौलिकता किसी समुदाय में अभी तक सार्थक रहा हो, प्रमाणित रहा हो, व्यावहारिक रहा हो, संविधान और व्यवस्था में पहचान बन चुका हो, शिक्षा परंपरा में प्रवाहित हो चुका हो, संस्कार परंपराओं में मानवीयता को पहचाना हो, ऐसा कोई उदाहरण अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। इसलिए भी विकल्प की आवश्यकता, अनिवार्यता स्पष्ट होती है।

व्यवहार के नियम

व्यवहार के नियम	**=**	स्वनियंत्रण
	=	जीने के निश्चित, सार्वभौम नियम
	=	बौद्धिक, सामाजिक, प्राकृतिक नियम
बौद्धिक नियम	**=**	असंग्रह (समृद्धि), विद्या, सरलता, स्नेह, अभय
	=	बौद्धिक नियंत्रण
सामाजिक नियम	=	स्वधन, स्वनारी / स्वपुरुष, दयापूर्ण कार्य व्यवहार
	=	चरित्र
	=	सामाजिक नियंत्रण
प्राकृतिक नियम	=	पूरकता, विकास, सहअस्तित्व

= नैसर्गिक नियंत्रण

3.2 परिवार में व्यवस्था

3.2.1 व्यवहार में 7 प्रकार के संबंध :- दायित्व- कर्तव्य

मानव में परस्परताएँ में भाई-बहन, पुत्र-पुत्री, माता-पिता, पति -पत्नी, चाचा-चाची, मामा-मामी आदि से सम्बोधन किये जाते है। ये परिवार सम्बोधन कहलाते है। इन सम्बोधन के साथ प्रयोजनो को (सम्बंध का अर्थ रूपी प्रयोजनो को) पहचानते हुए निर्वाह करने के क्रम में हम जागृत मानव कहलाते है। भ्रमित मानव भी सम्बोधनो को प्रयोग करता ही है। सम्पूर्ण प्रयोजन सम्बन्धो की पहचान और निर्वाह जैसे गुरू के साथ श्रद्धा-विश्वास, माता-पिता के साथ श्रद्धा-विश्वास, भाई-बहन के साथ स्नेह और विश्वास, मित्र के साथ स्नेह-विश्वास, पुत्र-पुत्री के साथ वात्सल्य, ममता, विश्वास, इसकी निरन्तरता में व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी को प्रमाणित करते है। इन सभी सम्बंधो का निर्वाह करने के साथ दायित्व और कर्तव्य अपने आप स्वीकृत होते है।

दायित्व कर्तव्यों का निर्वाह होना अपने आप में विश्वास का आधार बनता है यही व्यवहार सूत्र कहलाता है। जहाँ भी कर्तव्य दायित्वो का निर्वाह नहीं कर पाते वहाँ विश्वास नहीं हो पाता है। (दूसरी विधि से, जहां दायित्व (जिम्मेदारी) और कर्तव्य (करना) नही है, वहाँ संबंध नही है, फलतः व्यवहार नही है।)

भ्रमित मानव परम्परा में दायित्व कर्तव्य का बोध नहीं हो पाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है व्यवहार तंत्र का आधार सम्बंध ही है। इसका निर्वाह और निरंतरता ही परिवार और समाज की व्याख्या बन जाती है। इन दोनो प्रकार की व्याख्या से पारंगत होने के फलन में व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी होना स्वाभाविक है। व्यवस्था में सार्वभौमता स्वभाविक है। व्यवस्था को हर व्यक्ति बरता ही है अखण्ड समाज व्यवस्था ही व्यवस्था हो पाती है। ज.व. (142-143)

संबंध एक क्रिया है। प्रयोजन के अर्थ में संबंध को पहचानना है। जबकि, अभी हमारे रूचि के अनुसार संबंध रहता है। संबंध का प्रयोजन जो है, व्यवस्था है व्यवस्था के अर्थ में संबंध को पहचानना है। संबंध को पहचानने से मूल्य अपने आप रहते हैं। अभी संबंध के 'आकृति' को मां मानते हैं जबकि संबंध एक क्रिया है। यह संबंध क्रिया के रूप में अपने आप के मां की आकृति है। इस ढंग से 'अच्छा लगा बुरा लगा' कि आधार पर जो अभी तक संबंधों में पीड़ित होते हैं, इस ढंग से उससे छुटकारा पाने का उपाय बनता है। संवाद(2013)

- मानव समाज में परस्पर निम्न संबंध दृष्टिगोचर होता है :-
    1. पिता-माता एवं पुत्र-पुत्री संबंध,
    2. पति-पत्नी संबंध,
    3. गुरु और शिष्य संबंध,
    4. भाई और बहिन संबंध,
    5. साथी-सहयोगी संबंध,
    6. मित्र संबंध,
    7. व्यवस्था और समग्र व्यवस्था संबंध।

1. पिता-माता एवं पुत्र-पुत्री संबंध :-

माता-पिता के संबंध में पुत्र-पुत्री के साथ मातृ-भाव में शरीर-भाव सहित मौलिकता प्रधान रहता है तथा पितृ संबंध में मूल्य और बौद्धिक जागृति प्रधान व पोषण सम्पन्न रहता है। मूल रूप में माता पोषण प्रधान तथा पिता संरक्षण प्रधान स्पष्ट है। माता पिता की पहचान हर मानव संतान किया ही रहता है। शिशुकाल की स्वस्थता का यह पहचान भी है। अतएव माता-पिता जिन मूल्यों के साथ प्रस्तुत होते हैं, वह ममता और वात्सल्य है। ममता मूल्य के रूप में पोषण प्रधान क्रिया होने के रूप में या कर्त्तव्य होने के रूप में स्पष्ट है। इसलिए मां की भूमिका ममता प्रधान वात्सल्य के रूप में समझ में आती है। ममता मूल्य के धारक-वाहक ही स्वयं में मां है।

अभिभावक सन्तान का अभ्युदय (सर्वोतोमुखी समाधान) ही चाहते हैं। कुछ आयु के अनन्तर इसका प्रमाण चाहते हैं। माता एवं पिता हर संतान से उनकी अवस्था के अनुरूप प्रत्याशा रखते हैं।

उदाहरणार्थ शैशवावस्था में केवल बालक का लालन पालन ही माता-पिता का पुत्र-पुत्री के प्रति कर्त्तव्य होता है तथा इस कर्त्तव्य के निर्वाह के फलस्वरूप वह मात्र शिशु की मुस्कुराहट की ही अपेक्षा रखते हैं। कौमार्यावस्था में किंचित शिक्षा एवं भाषा का परिमार्जन चाहते हैं। कौमार्यावस्था के अनंतर संतान में उत्तम सभ्यता की कामना करते हैं। सभ्यता के मूल में हर माता-पिता अपने संतान से कृतज्ञता (गौरवता) पाना चाहते हैं तथा केवल इस एक अमूल्य निधि को पाने के लिये तन, मन एवं धन से संतान की सेवा किया करते हैं। संतान के लिये हर माता-पिता अपने मन में अभ्युदय, समृद्धि तथा संपन्नता की ही कामना रखते हैं, इन सब के मूल में कृतज्ञता की वाँछा (कामना) रहती है।

जो संतान माता-पिता एवं गुरु के कृतज्ञ नहीं होते हैं, उनका कृतघ्न होना अनिवार्य है, जिससे वह स्वयम् क्लेश परंपरा को प्राप्त करते हैं और दूसरों को भी क्लेशित करते हैं।

परिवारमूलक स्वराज्य व्यवस्था क्रम में ही जीने देकर जीने का प्रमाण मानव कुल में हो पाता है। इसे भ्रमित परंपरा में भी संवेदना के रूप में होना देखा गया है। एक माँ अथवा पिता सीमित साधनवश खाने के अत्यल्प आहार होने की स्थिति में सर्वप्रथम अपने संतान को पहले आहार देकर बचा हुआ को ही ख्राना चाहेंगें। इसमें समता मूल्य विश्वास क्रियाशील रहने के फलस्वरूप ऐसा आचरण अभिभावकों में होना देखने में आता है। अभिभावक का परिभाषा है “अभ्युदय के अर्थ में संतान को स्वीकारा है।“ जागृत मानव कुल में “जीने देकर जीने” की प्रवृत्ति चिन्हित रूप में दिखाई पड़ती है और जीवों में अर्थात् “जीकर जीने देने” की प्रवृत्ति देखने में मिलती है। जैसे बड़ी मछली छोटे मछली को भक्षण करती है।

मानव में ही जीने देकर जीना सर्वाधिक सम्भावना, आवश्यकता, उसके लिए पर्याप्त स्रोत जीवन सहज अक्षय बल, अक्षय शक्ति के रूप में विद्यमान है। अ.श. (213-214)

2 - पति-पत्नी संबंध :-

दाम्पत्य जीवन की चरम उपलब्धि ‘एक मन और दो शरीर होकर’ व्यवहार करना है। दाम्पत्य जीवन में व्यवहार निर्वाह संपर्क एवं संबंध ही है। तात्पर्य यह है कि दाम्पत्य जीवन व्यक्ति के रूप में दो है और व्यवहार के रूप में एक हैं। एक मन और दो शरीर अनुभव करने के लिए दोनों पक्षों द्वारा निर्विरोध पूर्वक अपने संबंध एवं संपर्क का निर्वाह करना ही अवसर, आवश्यकता तथा उपलब्धि है। मान, सम्मान, प्रतिष्ठा, आदर और यश पति अथवा पत्नी दोनों में सम्मिलित रूप से रहता है तथा उनमें से किसी एक को भी मिलने पर दूसरे पक्ष में वह समान रूप में बंटता ही है और इसकी स्वीकृति भी है। पति-पत्नी के रूप में दो शरीर एक मन होने का यही प्रमाण है।

सभी संबंधों में विश्वास मूल्य सदा-सदा होना परमावश्यक है। यही मूल मुद्दा है संबंधों को पहचानने का।

सभी संबंध अथवा स्थापित संबंध पहचान में होने के उपरांत शरीर काल तक निर्वाह होने की बात आती है। यही जागृत मानव परंपरा का प्रमाण है। संबंधों में से एक महत्वपूर्ण संबंध पति-पत्नी संबंध है। इस संबंध में परस्परता में मूल्यों का पहचान इस प्रकार से होता है कि विश्वास पूर्वक सम्मान, स्नेह व प्रेम मूल्यों का निरंतर अनुभव होता है या समय-समय पर होता है। न्यूनतम विश्वास मूल्य बना ही रहता है।

3. गुरु और शिष्य संबंध :-

गुरु की ओर से शिष्य के प्रति आशा बंधी रहती है कि जो अध्ययन कराया जाता है, उसका बोध शिष्य को होगा। शिष्य की गुरु से प्रत्याशा रहती है कि उसकी वांछा तथा जिज्ञासा के आधार पर उन्हीं दिशाओं में गुरु द्वारा अध्ययन कराया जाएगा। गुरु और शिष्य दोनों में उपलब्धि की कामना की साम्यता है। प्रक्रिया में पूरकता है। एक प्रदाता है और दूसरा प्राप्तकर्त्ता है। प्राप्तकर्त्ता और प्रदाता की एक ही अभिलाषा है कि 'बोध' पूर्ण हो जाये।

शिष्य का अर्थ बोध-पूर्ण हो जाता है, उस समय गुरु पर्व मनाता है अर्थात् गुरु को प्रसन्नता की अनुभूति होती है, जिसको **वात्सल्य** कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि हर एक बड़े अपने से छोटों में वांछित गुणों की प्रसारण क्रिया में तत्पर रहते हैं। इसके बदले में जो तोष (उत्सवित होना) वे पाते हैं, वही इसकी उपलब्धि है। प्रदाय के बदले में किसी भौतिक वस्तु की प्राप्ति की अभिलाषा नहीं रहती। जैसे-जैसे शिष्य का आकाँक्षा और जिज्ञासा शांत होता है, वैसे ही सभी संशय दूर होते जाता है। ऐसे संशय मुक्ति विधि से गौरव, श्रद्धा, कृतज्ञता मूल्य शिष्य में गुरु के लिए अर्पित होना पाया जाता है। इस प्रकार गुरु शिष्य में मूल्यों का मूल्यांकन पूर्वक उत्सवित होना स्वाभाविक होता है।

4. भाई और बहन संबंध -

भाई और बहन के संबंध को सौहार्द्र (आदर)-भाव के नाम से जाना जाता है। इसमें परस्पर जागृति की प्रत्याशा एवं उत्साह है भाई-बहन की पहचान एक निश्चित आयु में हो पाती है। पहचान होते ही परस्परता में सच्चाई, समझदारी और परिवार सम्मत अथवा जागृत मानव परिवार सम्मत अपेक्षा के अनुसार, कौमार्य अवस्था में आज्ञापालन सहयोग और अनुसरण जैसे कार्यों में परस्पर मूल्यांकन होना पाया जाता है। यही मित्रों के साथ भी होता है। जब भाई-बहन इन मुद्दों पर मूल्यांकन करने लगते हैं तब भी अभिभावक और गुरुजनों के साथ आज्ञापालन संबंध रहता ही है। अनुसरण भी इन्हीं दो पक्षों से जुड़ा रहता है। मूल्यांकन में ये सब बात स्पष्ट होना स्वाभाविक रहता है।

जहाँ तक सहयोग की अभिव्यक्ति है, इसमें एक दूसरे को अधिकाधिक सटीकता की और विचार अथवा प्रकाशित होने की संभावना बनी ही रहती है।

कौमार्य और युवावस्था के बीच भाई-बहन, भाई-भाई, बहन-बहन; के परस्परता में अनुशासन की बात आती है। अनुशासन आज्ञा पालन के क्रम में एक पक्षीय हो पाते हैं। अनुशासन गुरुजनों व अभिभावकों से जीने में प्रमाणित रहने के आधार पर, अनुशासन बोध संतानों में होना स्वाभाविक है। इस विधि से कार्य-व्यवहार विचार सम्पन्न होते हुए भाई-बहन-मित्र संबंधों में विश्वास पूर्वक सम्मान व मूल्यांकन पूर्वक परस्परता में स्नेह मूल्य को सदा-सदा प्रमाणित करना होता है। इस विधि से इन संबंधों में विश्वास, सम्मान, स्नेह मूल्य प्रधान रहता है साथ ही प्रेम मूल्य स्पष्ट होना भावी रहता है।

5. साथी-सहयोगी संबंध(उत्पादन कार्य में संबंध):-

एक दूसरे के लिए पूरक विधि से सार्थक होना पाया जाता है। यह संबंध सहयोगी (सेवक) की कर्त्तव्य निष्ठा से व साथी के दायित्व निष्ठा से सार्थक होना पाया जाता है। यह परस्पर पूरक संबंध है। इनमें मूल मुद्दा दायित्व को निर्वाह करना, कर्त्तव्यों

को पूरा करने में ही परस्परता में संगीत होना पाया जाता है। यह जागृत परंपरा की देन है। इसमें मुख्यत: विश्वास मूल्य रहता ही है। गौरव, सम्मान, स्नेह मूल्य अर्पित रहता है। सहयोगी के प्रति सम्मान मूल्य विश्वास के साथ अर्पित रहता है। इस विधि से मंगल मैत्री होना स्वाभाविक है।

6. मित्र सम्बन्ध :-

समाधान, समृद्धि सहज समानता ही मित्र संबंध है एवं सर्वतोमुखी समाधान में सहभागिता हो उसकी 'मित्र' संज्ञा है। इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि एक पक्ष यदि किसी विपरीत घटना या परिस्थिति से घिर जाए तो दूसरा पक्ष अपना पूरा तन, मन और धन व्यय करने के लिए तथा मित्र को उस घटना-विशेष अथवा परिस्थिति विशेष से उबारने के लिये प्रयत्नशील हो जाये। यही मित्रता की चरम उपलब्धि है। घटना ग्रस्त या परिस्थिति ग्रस्त मित्र की जो कठिनाइयाँ है, वह पूरी की पूरी दूसरे मित्र को प्रतिभासित होती है। मित्रता की कसौटी ही यह है कि परस्पर की कठिनाइयों को दूसरा पक्ष सटीक स्वीकार लेता है और यदि उसका परिहार है, तो उसके लिये अपनी शक्तियों को नियोजित करता है।

7. व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी का संबंध (नागरिक- राज्य व्यवस्था संबंध):-

व्यवस्था का धारक-वाहक जागृत मानव ही होता है। व्यवस्था में भागीदारी करने के लिए मानव को जागृत होना रहना आवश्यक है। जागृतिपूर्वक ही नर-नारी जानने,मानने,पहचानने, निर्वाह करने का प्रमाण प्रस्तुत करता है। सामाजिक दायित्व का प्रमाण हर समझदार परिवार में समाधान, समृद्धिपूर्वक जीने में प्रमाणित होता है। यह क्रमशः सम्पूर्ण मानव का एक इकाई के रूप में पहचान पाना बन जाता है। पहचानने के फलन में निर्वाह करना बनता ही है। ऐसी निर्वाह विधि स्वाभाविक रूप में मूल्यों से अनुबंधित रहता ही है। यही व्यवस्था में भागीदारी की स्थिति में परिवार व्यवस्था से अन्तर्राष्ट्रीय या विश्व परिवार व्यवस्था तक स्थितियों में भागीदारी की आवश्यकता रहता ही है।

ऐसे भागीदारी के क्रम में मानव अपने में, से समझदारी विधि से प्रस्तुत होना बनता है। समझदारी विधि से ही हर नर-नारी व्यवस्था में भागीदारी करना सुलभ सहज और आवश्यक है। इसी क्रम से मानव लक्ष्य प्रमाणित होते हैं जो समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व के रूप में पहचाना गया है, इसे प्रमाणित करना ही मानवीयता पूर्ण व्यवस्था है।

इस ढंग से स्पष्ट है कि हम मानव संबंधों में जीकर ही सुखी होते है। संबंधों को प्रयोजन के अर्थ में, व्यवस्था के अर्थ में जब पहचानते है, मूल्य अपने आप बहते है। आगे व्यवहार मूल्य, तथा संबंध मूल्यों पर चर्चा है। व्य.द. (171-192), म. व. (58-60)

3.2.2 व्यवहार मूल्य

व्यवहार सहज 18 **मूल्य**

सम्बन्धों के साथ ही शिष्टता विधि स्वाभाविक है। सम्बन्धों का सम्बोधन मानव संबंधों के आधार पर ही निश्चित मूल्य और शिष्टता का द्योतक होता है। यह परिवार (अखण्ड समाज) क्रम में और सभा-विधि में जैसे परिवार सभा और विश्व परिवार सभा में भी परस्पर सम्बोधन मानव संबंधों का सम्बोधन विधि से ही शिष्टता का निश्चयन है। परिवार विधि में हर सम्बोधन प्रयोजन से लक्षित होना पाया जाता है। और हर प्रयोजन हर व्यक्ति के अपेक्षा सहित सम्बोधन का वस्तु है।

परिवार क्रम में

सम्बोधन	**प्रयोजन**
1. पिता	- संरक्षण
2. माता	- पोषण
3. पति-पत्नी	- यतित्व-सतीत्व
4. पुत्र-पुत्री	- अनुराग
5. स्वामी (साथी)	- दायित्व
6. सेवक (सहयोगी)	- कर्तव्य
7. गुरू	- प्रामाणिकता
8. शिष्य	- जिज्ञासु
9. भाई-बहन-मित्र	- जागृति (समाधान-समृद्धि)

परिवार विधि विहित सम्बोधन, परिवार विधि का तात्पर्य परिवार सम्बन्ध से है। जैसे एक ही व्यक्ति किसी का माता, किसी का पुत्री, किसी का बहिन, किसी का पत्नी, किसी का गुरू, किसी का शिष्य, किसी का मित्र, किसी का बंधु सम्बन्धों में पाया जाता है। संबंध की परिभाषा ही पूर्णता के अर्थ में अनुबंध है। अनुबंध का तात्पर्य बोध सहित निष्ठा सहज किसी के प्रति प्रयोजन कार्य और निष्ठा सहित स्वीकृति का सत्यापन ही प्रतिज्ञा होता है। स.श. (181-183)

संबंध पहचनाने से मूल्य अपने आप बहते है। स्थापित मूल्य 9 और शिष्ट मूल्य 9 हैं। शिष्ट मूल्य परस्परता में व्यक्त होते है। स्थापित मूल्य स्वयं में अनुभव होते हैं ।

मानवीय चेतना संपन्न मानव संबंध में स्थापित व शिष्ट मूल्य निम्न है :-

स्थापित मूल्य	**शिष्ट मूल्य**
(1) **कृत्तज्ञता** - प्राप्त सहायता उपकार के प्रति स्वीकृति प्रसन्नता व निरंतरता की स्वीकृति	(1) **सौम्यता** - स्वयं स्फूर्त प्रणाली, पद्धति से स्वयं का नियंत्रण
(2**) गौरव** - विकसित (जागृत) को पहचान एवं उनके अनुरूप होने में उत्साह और निरंतरता	(2) **सरलता -** ग्रंथि (तनाव) रहित अंगहार एवं उसका प्रकाशन
(3) **श्रद्धा** - प्रामाणिकता, श्रेष्ठता की ओर प्रवृत्ति एवं संकल्प सहित गति	(3) **पूज्यता** - गुणात्मक परिवर्तन के लिए सक्रियता
(4) **प्रेम** - पूर्णता सहज प्रमाण; दया कृपा करूणा की संयुक्त अभिव्यक्ति।पूर्णता में नित्य रति, पूर्णता की सहज निरंतरता	(4) **अनन्यता** - जागृति पूर्णता के लिए योग्य पहचान, प्रमाण सहज निरंतरता

(5) **विश्वास -** संबंध निर्वाह निरंतरता सहित मूल्यों के निर्वाह

(6) **वात्सल्य** - अभ्युदय सर्वतोमुखी समाधान के अर्थ में पोषण संरक्षण व्यक्तित्व में संतुलन, व्यवहार में निरंतरता

(7**) ममता** - स्वयं में, से, के लिए प्रतिरूपता सहज स्वीकृति, उत्सव निरंतरता

(8) **सम्मान** - व्यक्तित्व एवं प्रतिभा में श्रेष्ठता सहज प्रमाण का पहचान, स्वीकृति - प्रमाणित होने की प्रवृत्ति

(9) **स्नेह** - संतुष्टि प्रसन्नता, विचार व्यवहार में निरंतरता, स्फूर्त मिलन सान्निध्य की निरंतरता

(5) **सौजन्यता** - सहकारिता, सहयोगिता, पूरकता, की निरंतरता उपयोगिता

(6) **सहजता** – दिखवा रहित प्रस्तुति

(7) **उदारता** - प्रतिफलापेक्षा विहीन कर्त्तव्य दायित्व वहन,तन मन धन अर्पण

(8) **सौहाद्रता** - स्पष्टता से मूल्यांकन, क्रियाकलाप में स्पष्टता, सार्थकता

(9) **निष्ठा** - मानवीयता पूर्ण उत्सव में, से, के लिए स्वयं मानवीयता सहित व्यवस्था सहज वर्तमान

सभी संबंधों का निर्वाह ही व्यवस्था है। अभिव्यक्ति, संप्रेषणा सहज प्रकाशन = भाषा भाव मुद्रा अंगहार प्रक्रिया सहित संप्रेषणा = सटीक भाषा (अर्थ संगत) = चित्र लेख रूप में = स्वीकृत संप्रेषणा = अभिव्यक्ति = संबंधों का निर्वाह सहज प्रमाण। किशोरावस्था तक पहचान संबोधन और दस वर्ष के पश्चात् समझ सहित निर्वाह परस्परता में अपेक्षा - आवश्यकता। अध्ययन बिन्दु (10,11),संवाद 2009

(शिष्ट मूल्य)

नाम	**कार्य**
(1) सौम्यता	स्वेच्छा से, स्वयं स्फूर्त विधि से, स्वयं की नियंत्रण क्रिया।
(2) सरलता	ग्रंथि व तनाव रहित अंगहार, क्रियाकलाप।
(3) पूज्यता	गुणात्मक विकास, जागृति सहज स्वीकृति सहित किए गए क्रियाकलाप।
(4) अनन्यता	मानव की परस्परता में, पूरक क्रियाकलाप। (एकात्मता) प्रामाणिकता व समाधान में निरंतरता। अविकसित के विकास में सहायक क्रिया।
(5) सौजन्यता	सहकारिता, सहयोगिता, सहभागिता सहज क्रियाकलाप।
(6) सहजता	आंडबर तथा रहस्यता से मुक्त व्यवहार, रीति, विचार एवं अनुभव की एक सूत्रता क्रिया।
(7) उदारता	दूसरों के उत्थान के लिए आवश्यकतानुसार तन, मन, धन रूपी अर्थ का अर्पण, समर्पण क्रिया।
(8) अरहस्यता (सौहाद्रता)	जिस प्रकार से स्वीकृत है, उस अवधारणा, स्मृति अथवा श्रुति को यथावत प्रस्तुत करने का क्रियाकलाप।
(9) निष्ठा	लक्ष्य को स्मरण पूर्वक प्राप्त करने का निरंतर प्रयास।

म.वि. (180)

किसी भी संबध को, चाहे माता-पिता, पुत्र-पुत्री, गुरू-शिष्य, पति-पत्नी, स्वामी-सेवक, मित्र-मित्र सम्बन्ध सभी हो अथवा एक से अधिक हो उनमें विश्वास साम्य मूल्य है। इसका निर्वाह होना ही विश्वास की गवाही है। विश्वास ही आधार मूल्य है। प्रेम पूर्ण मूल्य है। म.वि. (72-73)

3.2.3 परिवार व्यवस्था में जीना, समृद्धि

निश्चित संख्या में जागृत (नर-नारी) मानव जो परस्पर सम्बन्धों को पहचानते व मूल्यों का निर्वाह करते हैं और परिवार गत उत्पादन कार्य में परस्पर पूरक होते हैं। ऐसे कम से कम 10 व्यक्तियों का समूह परिवार की संज्ञा है। म.वि. (179)

मानव का निरीक्षण करने पर पता लगता है कि परिवार मानव विधि से मानव में आवश्यकताएँ प्रतीत होती हैं। परिवार मानव का तात्पर्य एक से अधिक समझदार मानव परस्पर संबंध को पूरक विधि से पहचानने के फलस्वरुप आवश्यकताएँ अपने आप प्रतीत होती हैं। प्रतीत का तात्पर्य - प्रत्येक रूप में प्रमाणित होने का प्रयास उदय हैं। इसे प्रत्येक दो या दो अधिक मानव परस्परता में पूरकता की अपेक्षा करता हो, विश्वास करता हो ऐसी स्थिति में ही आवश्यकताएँ समझ में आती हैं। यथा जानने, मानने में आता हैं, फलस्वरुप प्रयासोदय होना पाया जाता हैं। प्रयासों की प्रक्रिया रूप में प्राकृतिक ऐश्वर्य पर विशेषकर वन, खनिज पर श्रम नियोजन होना, फलस्वरुप आवश्यकता के रूप में प्राकृतिक ऐश्वर्य परिवर्तित होना पाया जाता हैं।

परिवार व्यवस्था में जीने का मूल सूत्र विकल्प के रूप में होना समझ में आता है कि:-

- 10 या 10 से अधिक, तीन पीढ़ी, समझदार मानव = परिवार।
- संबंधों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह।
- संग्रह के स्थान पर समृद्धि।
- मानव व नैसर्गिक संबंध, हर परिवार मानव का उत्पादन में भागीदारी।
- हर परिवार में व्यवहार व उद्योग, परिवार व्यवस्था में भागीदारी।

इन सबके मूल में, प्रत्येक व्यक्ति में जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान होना एक अनिवार्यता है। मानव जब तक स्वयं में, से, के लिए विश्वास नहीं करेगा, तब तक एक व्यवस्थापक रहकर अथवा एक कार्यकर्ता रहकर अथवा और भी किसी स्थिति में रहकर संतुष्टि, संतुलन, नियत नियंत्रण पाना संभव नहीं है। इस व्यवस्था को पैदा करना करेगा ही करेगा। भ.व. (305-315)

"आवश्यकता से अधिक उत्पादन = परिवार में समृद्धि"

जागृत मानव में स्वयं के प्रति विश्वास, श्रेष्ठता के प्रति सम्मान, प्रतिभा और व्यक्तित्व में संतुलन, व्यवसाय में स्वावलंबी, व्यवहार में सामाजिक रूप में पाया जाता है। यही परिवार मानव का स्वरूप है। जागृत मानव परिवार अपने में परस्पर संबंधों को निश्चित रूप में पहचानने, मूल्यों को निर्वाह करने, मूल्यांकन पूर्वक परस्पर उभयतृप्ति पाने के रूप में देखा जाता है। ऐसे परिवार में अपनाये गये उत्पादन कार्य में स्वयं स्फूर्त विधि से परिवार का हर व्यक्ति पूरक होना पाया जाता है। फलतः परिवार की आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का उत्पादन हर परिवार में समीचीन (सुलभ) रहता ही है।

परिवार में उभयतृप्ति, उसकी निरंतरता और आवश्यकता से अधिक उत्पादन उसका सदुपयोग और सुरक्षा यह स्वयं में आवर्तनशील है। इससे स्पष्टतया समझ में आता है कि मानवीयतापूर्ण परिवार में आवश्यकताएं सीमित हो जाती है क्योंकि उपयोग, सदुपयोग, प्रयोजनशीलता निश्चित होता है। अ.श. (52)

मानव जाति, मानव धर्म एक ही है और धरती एक है। इस आधार पर अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था मानव परंपरा में वैभवित होना सहज है। उत्पादन सुलभता अर्थात् परिवार में जितने भी परिवार मानव रहते हैं उन सबकी आवश्यकता से अधिक उत्पादन कार्य होना परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था क्रम में सहज और सुलभ है। इस विधि से हर परिवार समृद्ध होने सहज समीचीनता सुलभ रहता ही है। इसी के साथ श्रम मूल्य के आधार पर विनिमय प्रणाली सर्वसुलभ होता ही है। इस विधि से लाभ-हानि मुक्त विनिमय सम्पन्न होना सहज है। फलस्वरूप लाभ से होने वाली अहमता (अहंकार) और हानि से होने वाली पीड़ा से मुक्त होना स्वाभाविक रहता ही है।

समाधान, समृद्धि, शांति और सुख का सूत्र होना और न्याय सुलभता के साथ ही वर्तमान में विश्वास होना देखा गया है।

जागृति विधि से ही संग्रह, सुविधा, पूंजी पर अधिकार की निरर्थकता स्पष्ट होती है और आकाश, खनिज, वन, समुद्र धरती पर अधिकार कल्पनाएँ भ्रामक सिद्ध हो जाती हैं। इसी क्रम में शरीर व्यापार, ज्ञान व्यापार, धर्म व्यापार, विचार व्यापार, मानव का व्यापार, बौद्धिक सम्पदा का व्यापार सम्बन्धी सभी प्रयास, प्रक्रिया, परिणाम का व्यर्थता हर मानव को समझ में आता है। यही अनुभव और जागृति सहज महिमा है। ऐसी जागृति का पहला प्रमाण स्वायत्त मानव ही होना देखा गया है। अ.व. (38-40)

सम्पूर्ण आहार आदि वस्तुएँ व्यवस्था क्रम में समृद्धि के रूप में ही संभाव्य है। **क्योंकि उत्पादन के अनंतर ही उपयोग की आवश्यकता समीचीन होता है 'जो उत्पादन में भागीदार नहीं है उन्हें उपयोग, सदुपयोग सम्बन्धी जागृति होता ही नहीं।' उत्पादन कार्य में भागीदार नहीं है मानवीयतापूर्ण मानव के रूप में प्रमाणित होना संभव नहीं।** जो उत्पादन कार्य में लगे रहते हैं वे संग्रह नहीं कर पाते हैं एवं जो संग्रह करते हैं वे सब उत्पादन कार्य में शिथिल होने की ओर है। इससे यह स्पष्ट हो गई मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञानदर्शन सम्पन्न होने के पहले अभी तक मानव व्यवस्था में जीने और समग्र व्यवस्था में भागीदारी को प्रमाणित नहीं कर पाए। जबकि इसकी मानव मानस में नितांत आवश्यकता है।

आज भी यह सर्वेक्षित तथ्य है स्वायत्त विधि से जो-जो उत्पादन करते हैं वे सब अपने से उत्पादित वस्तु का सर्वाधिक सुरक्षा करते हैं, सदुपयोग करना चाहते हैं। सदुपयोग का ख्याति, यश न होने के फलस्वरूप कुंठित रहते हैं।

यह भी देखी गई कि जिस परिवार में उत्पादन कार्य से भागीदारी का संबंध नहीं रह जाती है ऐसे परिवार में शासन और सुविधा का समानाधिकार की प्रवृत्ति उभरी हुई मिलती है। यह भी देखा गया है अधिकाधिक परिवार जो केवल संग्रह और भोगलिप्सा में रत रहते हैं उनमे शासन और सुविधा को लेकर कटुता, वितंडावाद, विरोध, विद्रोह बना रहता है। इस प्रकार कुण्ठाएँ दिखाई पड़ती हैं। वेतन भोगी अथवा मजदूरी विधि से जो कार्यरत रहते हैं वे सब नौकरी लगते तक, मजदूरी में लगते तक कार्य करने में स्वीकृति बनी रहती है। परन्तु जब कार्यरत होते हैं, अर्थात् मजदूर, वेतनभोगी जब नियमित होते हैं उसके उपरांत अधिकांश लोगों में कार्य में शिथिलता होना देखा गया है। जो वेतनमान और मजदूरी पाते हैं उनमें विपुलता की चाह बढ़ जाती है।

उद्योग का नियंत्रण, लाभाकांक्षा से पीड़ित रहना, जिसको हम "मैनेजमेंट" कहते हैं, दूसरे भाषा से उद्योगपति भी कहते हैं, सफल उद्योग का तात्पर्य ही है अधिकाधिक लाभ प्राप्त होते रहें।

लाभ का और संग्रह का कहीं तृप्ति बिन्दु ही न होना सबको विदित है। इस विधि से उद्योग में भागीदारी करने वाले निरंतर व्यथित रहना, असंतुष्ट रहना ही हाथ लग पाता है। इस बीच भय और प्रलोभन के आधार पर ही उद्योग व्यवस्था को सफल बनाने का प्रयत्न प्रौद्योगिकी के आरंभ काल से ही जुड़ा हुआ देखा गया। अ.श. (157-160)

जबकि परिवार मूलक, स्वराज्य गति सहित स्वानुशासन संपन्न होना ही मानव पंरपरा का सहज लक्ष्य है। इसी क्रम में मानव का मानवीयतापूर्ण विधि से स्वयं में व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी संपन्न होना सहज हैं। ऐसी सहजता किसी भी समुदाय परंपरा में, से सुलभ नहीं हो पाई। तथापि हर देश, हर समुदाय में श्रेष्ठतम व्यक्तियों का होना, इतिहास सहज

आंकलन के रूप में भी देखा जा रहा हैं। आज भी आदर्श व्यक्ति अथवा व्यक्तित्वों को हर समुदाय, हर देश, हर परंपरा में जन सामान्य स्वीकारता हुआ देखने को मिल रहा हैं।

जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन सहज अध्ययन से मानवीयतापूर्ण आचरण प्रमाणित हो जाता हैं। मानवीयता पूर्ण आचरण सहज व्यक्ति तथा परिवारों को अब पहचानना संभव हैं। आदर्शवादी-भौतिकवादी कोई समुदाय, कोई शासन, कोई समाज सेवी संस्था ऐसे व्यक्ति, परिवार को पहचानने का प्रयास नहीं कर पाए।

परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था सहज संभावना के लिए, यही सर्वेक्षण आधार हैं। मानव में, मानवीयतापूर्ण आचरण सहज पहचान इस प्रकार से देखा गया हैं - जो स्वधन, स्वनारी/स्वपुरुष, दया पूर्ण कार्य-व्यवहार करता हैं। संबंधों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह और मूल्यांकन कार्य करता हैं, उभय तृप्ति सहज प्रमाण होता हैं। तन, मन, धन रुपी अर्थ को सदुपयोग, सुरक्षा करता हैं। यही मानवीयता पूर्ण आचरण का स्वरुप हैं। तन मन धन रूपी अर्थ के सदुपयोग, सुरक्षा में ही मानव व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी है, और अखण्ड समाज रचना, रचना कार्य और उसमें भागीदारी का निर्वाह करता है, यही जागृत परंपरा का दायित्व हैं।

वर्तमान परिस्थिति से तह स्पष्ट है कि मानव परंपरा में बढ़ रहा भ्रम जो अपना-पराया के रूप में है, परेशान कर रहा हैं। जिससे मुक्त होने के लिए मानव को पहचानना ही होगा। अस्तित्व को पहचानना ही होगा। सह-अस्तित्व को पहचानना ही होगा और जीवन को पहचानना ही होगा।

यह तथ्य, सत्य, यथार्थ अनेक समुदाय परंपरा रुपी प्रवाह में ऐसी कोई चीज दिखाई नहीं पड़ती है, इसलिए इस साक्ष्य से सम्पूर्ण समुदायों द्वारा अपने भ्रम को स्वीकारना संभव हो जाएगा। फलस्वरुप निर्भ्रमता के लिए प्रयास सहज रूप में ही होगा। इस प्रकार सभी मानव शुभ चाहते हुए भी, शुभ से वंचित रहे, इसका कारण स्पष्ट हो जाता हैं और सर्वशुभ के लिए मार्ग सह-अस्तित्व सहज प्रणाली से प्रशस्त हो जाता हैं। सह-अस्तित्ववादी प्रणाली में ही संपूर्ण भौतिकता, रासायनिकता समाधान क्रम में होना प्रमाणित हुआ हैं। सम्पूर्ण मानव समाधान के प्यासे हैं। मानव समाधान परंपरा में जीने के लिए बाध्य है। **समाधान ही सुख और सौंदर्य होने के फलस्वरुप यही मानव धर्म है, यह प्रमाणित हैं।**

मानव के अतिरिक्त सभी जीव, सभी वनस्पति, सभी पदार्थ उन-उन परंपरा के अनुरुप अस्तित्व में निश्चयता सहज सूत्र के अनुरुप कार्य करता हुआ अध्ययन गम्य हो चुका हैं। यही प्रधान रूप में, समाधानात्मक भौतिकवाद की सफलता हैं। भ.व. (305-315)

3.3 समाज में व्यवस्था

3.3.1 **समुदाय समाज नहीं है**

प्राचीन समय से अन्य शब्दों की तरह समाज शब्द भी प्रचलित रहा है। समाज शब्द का ध्वनि निर्देश तब बनता है जब इसके पहले एक निश्चित वस्तु (वास्तविकता) हो, उसे नाम चाहिए जैसे - हिन्दू समाज, मुसलमान समाज, ईसाई समाज, आदि। ये सब अपने को श्रेष्ठ मानते रहे हैं। इस प्रकार समाज शब्द के पहले अवश्य ही कोई धर्म, सम्प्रदाय, जाति, समुदाय का योग होना देखा गया है। इस परिप्रेक्ष्य में उल्लेखनीय मुद्दा यही है कि इन सभी "पावन ग्रन्थों" के अध्ययन से सर्वतोमुखी समाधान की अपेक्षा रही है। यह अपेक्षा अभी भी यथावत् है। यही अग्रिम शोध का प्रवर्तन कारण है अर्थात् पुनर्विचार के लिए पर्याप्त मुद्दा है।

ऐतिहासिक गवाही के अनुसार ये सब समाज, धर्म और राज्य का दावेदार है। प्राचीन समय से अभी तक (बीसवीं शताब्दी के दसवें दशक तक) धर्म व राज्य के इतिहास के अनुसार मतभेद, युद्ध, कहानियाँ लिखा हुआ है।

ये सब इतिहास वार्ता से सकारात्मक विधि से पता चलता है कि राज्य और धर्म पूरकता विरोधी हैं। जबकि मानव कुल में सर्वशुभ और उसकी निरन्तरता आवश्यक है। यह भी अनुसंधान का मुद्दा है। आदिकाल से सभी धर्म और राज्य जनसामान्य के सुख-चैन का आश्वासन ग्रन्थों और भाषणों में देते रहे हैं। धर्म व राज्य गद्दियाँ सदा ही सम्मान का केन्द्र रहे हैं। लोक सम्मान इनमें अर्पित होता ही आया है। बीच-बीच में विद्रोह भी घटित होता रहा व दोनों गद्दियों में चौमुखी असमानता देखने को मिलता है।

शोध के लिए प्रश्न :-

1. सर्वतोमुखी समाधान कैसे हो ?
2. सर्वशुभ कैसे हो ?
3. असमानता निराकरण कैसे हो ?

चौमुखी असमानताएँ :

1. **धनी/निर्धनी** : जो संग्रह किए हो वह धनी।
2. **बली/दुर्बली** : जो ज्यादा मार-काट करता हो वह बली।
3. **ज्ञानी/अज्ञानी** : जो ज्यादा प्रवचन करता हो ज्ञानी। जो प्रवचन सुनता हो अज्ञानी।
4. **विद्वान/मूर्ख** : जो ज्यादा किताब पढ़ा हो वह विद्वान।

ये चारों प्रकार की असमानताएँ राज्य, धर्म और परंपरा की ही देन हैं, क्योंकि राज्य और धर्म प्रभावशाली परंपरा रही हैं। इस धरती पर चारों प्रकार से सम्पन्नता-विपन्नता का चौखट बना ही है जिसे मानव भोग रहा है। इस धरती में देखा गया है कि राज्य-राज्य की परस्परता में विरोध सदैव बना ही है। धर्म-धर्म की परस्परता में वाद-विवाद या विरोध बना ही है। ऐसी स्थिति में चौमुखी असमानता निराकरण कैसे हो यह भी अनुसंधान-शोध का मुद्दा है। इन्हीं अनुसंधान द्वारा जनमानस के सब प्रश्नों का समाधान सर्वशुभ होना चाहिए या नहीं चाहिए ? चौमुखी असमानता दूर होनी चाहिए या नहीं होनी चाहिए ? सर्वतोमुखी समाधान चाहिए या नहीं चाहिए ? इन सभी प्रश्नों का सकारात्मक उत्तर जिससे मिलता है उसे अपनाना ही सर्वशुभ है।

क्या समाज का मूल रूप समग्र मानव (सारे मानव) होगा या नहीं होगा ? यह भी विचारणीय बिन्दु है।

जबकि समग्र मानव ही अखण्ड समाज का आधार है तब, अभी तक विद्वान विचारकों को इसे पहचानने में क्या अड़चने रहीं ? यह सब विचारणीय बिन्दु और प्रश्न चिन्ह हैं। **अभी तक परंपरा में समुदायों को समाज माना गया है**। इन सब मुद्दों के मूल में मानव का अध्ययन न हो पाना है। मानव समाज में मानव का कार्य व आचरणों के निश्चयन का आधार क्या है ? यह विचारणीय मुद्दा है। ज.व. (287)

प्रचलन में समुदाय निम्न आधारों पर पाया जाता है। नस्ल-रंग, जाती, धर्म(मान्यता), भाषा, देश, धन, पद। ऊपर वर्णित क्रम में विविध समुदायों के रूप में पनपता हुई परंपरायें अपने-अपने परंपरानुगत विधि से पीढ़ी से पीढ़ी को क्या-क्या सौंपते आये और इस बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में जीती जागती पीढ़ी को क्या से क्या सौंप गया है। इन मुद्दों पर एक सामान्य अवलोकन आवश्यक है। परंपरा विगत में मानव, मानव के साथ क्या किया ? मानव मानवेत्तर प्रकृति के साथ क्या किया? यही दो अवलोकन का मुद्दा है। दोनों प्रश्नों का उत्तर मानव स्वीकार्य नही है। स. श. (14-17)

सर्वाधिक रूप में यही अभी तक देखने में मिला है कि मानव ही मानव के लिए समस्या का प्रधान कारण है। व्यक्तिवादी समुदायवादी विधि से प्रत्येक मानव समस्याओं को पालता है, पोषता है और वितरण किया करता है। परिवार मानव के रूप में प्रत्येक व्यक्ति समाधान को पालता है पोषता है और वितरित करता है, क्योंकि जो जिसके पास रहता है वह उसी को बंटन करता है। जबकि स्वायत्त मानव ही परिवार मानव के रूप में प्रमाणित हो पाता है। स्वायत्त मानव का तात्पर्य स्वयं स्फूर्त विधि से व्यवहार में सामाजिक, व्यवसाय में स्वावलंबी होने की अर्हता से है। अ.श. (29-30)

यह भी चर्चा का मुद्दा है कि हम शासन में जीना चाहते है या व्यवस्था मे। यदि शासन चाहते हो तब अभी हो रहे भ्रष्टाचार, दूराचार, अनाचार उसी प्रकार होते रहेंगे। यदि जन मानस इसे नहीं चाहता तो परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था को अपनाना होगा। परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था अपने आप में समझदारी सम्पन्न अनेक परिवारो की संयुक्त व्यवस्था है। प्रत्येक परिवार में उपकार प्रवृति होने के आधार पर स्वत्व स्वतंत्रता अधिकार स्वयं स्फूर्त होता है। इसमें जनप्रतिनिधि किसी भी प्रकार से धन व्यय के बिना उपलब्ध होना एक महिमा सम्पन्न घटना है जिसकी आवश्यकता है। इस प्रकार 10 प्रतिशत व्यक्ति हर गांव, मुहल्ले, देश में सम्पूर्ण धरती में उपलब्ध होना समीचीन है। ज.व. (150)

आज की स्थिति में भय और आस्था दोनों प्रलोभन के चक्कर में आकर अस्वीकृत होते जा रहे हैं। प्रलोभन की आपूर्ति का स्रोत और संभावना दोनों न होने के कारण, दूसरा उसकी तृप्ति बिन्दु न होने के कारण पागलपन छा जाना आवश्यंभावी रही है। अतएव इससे मुक्ति पाने के लिए कुछ लोग इच्छा रखते हैं। अधिकांश लोग निराशा, कुण्ठा ग्रसित हो चुके हैं। ऐसी स्थिति में हर मोड़-मुद्दे में विकल्प की आवश्यकता है ही। यहाँ की प्रासंगिकता आवर्तनशील अर्थशास्त्र और कार्यक्रम से यह सारी परेशानियाँ दूर होकर स्वस्थ अर्थात् समाधानित, समृद्ध, अभय, सह-अस्तित्वशील परिवार को साकार कर लेना संभव हो गया है। इसके मूल में प्रत्येक मानव में जागृति ही प्रधान सूत्र है। अ.श. (138)

परिवार का तात्पर्य सीमित संख्यात्मक स्वायत्त नर-नारियों का न्याय पूर्वक सहवास रूप है। यह अपने आप में स्वयं स्फूर्त विधि से परस्पर संबंधों को पहचानना मूल्यों को निर्वाह करना, मूल्यांकन करना और उभय तृप्ति पाना होता है। इसी के साथ-साथ समझदार परिवारगत उत्पादन कार्य में परस्पर पूरक होना, परिवार की आवश्कता से अधिक उत्पादन करना अथवा होना होता है। यही परिवार का कार्यकलाप का प्रारंभिक स्वरूप है। संबंध, मूल्य, मूल्यांकन विधि से समाज रचना और अखंड समाज होना पाया जाता है अथवा संभावनाएं है ही। समाज रचना विधि ही व्यवस्था का आधार है।

व्यवस्था का स्वरूप पांचों आयामों में यथा (1) न्याय सुरक्षा, (2) उत्पादन कार्य (3) विनिमय कोष (4) स्वास्थ्य संयम, और (5) शिक्षा संस्कार कार्यकलापों के रूप में प्रमाणित हो पाता है और उसकी निरंतरता संभावित है।

सभी आयामों में भागीदारी को निर्वाह करना ही समग्र व्यवस्था में भागीदारी का तात्पर्य है। ऐसी व्यवस्था सार्वभौम होने की संभावना समीचीन है जिसकी अक्षुण्णता (निरन्तरता) मानव परंपरा में भावी है। ऐसी व्यवस्था को कम से कम एक गाँव से आरंभ करना और सभी आयामों में भागीदारी को निर्वाह करने योग्य अर्हता सें समूचे ग्राम वासियों को सम्पन्न करना एक आवश्यकता है। ऐसे अर्हता से सम्पन्न परिवार मानव और परिवार कम से कम 100 परिवार के सह-अस्तित्व में परिवारमूलक स्वराज्य व्यवस्था समझदारी पूर्वक प्रमाणित हो पाता है। ऐसी परिवारमूलक स्वराज्य व्यवस्था में ही आवर्तनशील अर्थशास्त्र चरितार्थ होना सहज संभव है।

अखण्ड समाज में परिवार मानव से विश्व परिवार मानव के रूप में जीने की कला में अभय अर्थात् परस्पर विश्वास देखने को मिलता है। (सार्वभौम व्यवस्था का तात्पर्य 5 आयाम, 10 सोपानीय व्यवस्था। 5 आयाम = शिक्षा, उत्पादन, विनिमय, न्याय, स्वास्थ्य। 10 सोपानीय = परिवार, परिवार सभा, परिवार समूह सभा से विश्व परिवार सभा पर्यंत व्यवस्था।) अ.श. (30-31)

शिक्षा संस्कार

मानव अपने परंपरा में व्यवस्था के रूप में जीने के लिए जागृत होना एक अनिवार्यता-आवश्यकता बनी रही। परंपरा के रूप में जागृति का तात्पर्य सत्य परंपरा में प्रवाहित रहने से ही है। मानव परंपरा में सत्य प्रवाहित रहने का प्रमाण शिक्षा में परम-सत्य रूपी अस्तित्व ही सह-अस्तित्व के रूप में व्याख्यायित होना और बोध अनिवार्य रहा। इसी के फलस्वरूप मानवीय संस्कार को परंपरा के रूप में वहन करना स्वाभाविक है। **मानवीय शिक्षा-संस्कार की परिणती ही परिवारमूलक स्वराज्य व्यवस्था और मानवीय आचार संहिता रूपी संविधान सहज ही प्रवाहित होता है।**

इसीलिए शिक्षा-संस्कार में सह-अस्तित्व दर्शन ज्ञान को परम दर्शन के रूप में, जीवन ज्ञान को परम ज्ञान के रूप में, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान को परम आचरण के रूप में वहन करना मानवीयतापूर्ण परंपरा की गरिमा और महिमा है।

यह भी इंगित किया है न्याय सुलभता, विनिमय सुलभता और उत्पादन सुलभतापूर्वक ही मावीयतापूर्ण व्यवस्था को पहचाना जा सकता है। फलस्वरूप समग्र व्यवस्था में भागीदारी का सौभाग्य उदय होना पाया जाता है। यह भी स्पष्ट हो चुका है हर मानव जागृत होना चाहता है, प्रामाणिक होना चाहता है, व्यवस्था में ही जीना चाहता है। इस विधि से प्रत्येक व्यक्ति की साम्य-कामनाएँ मानव परंपरा का अथवा मानव पंरपरा सहज लक्ष्य का आधार है। अतएव मानव परंपरा में से के लिए परिवारमूलक स्वराज्य व्यवस्था ही एकमात्र शरण है। अ.श. (133)

परंतु इस तथ्य को भली प्रकार से देखा गया है, समझा गया है, कि हर मानव तृप्ति पूर्वक ही जीने का इच्छुक है। ऐसी तृप्ति, सुख ,शांति, संतोष, आनंद के रूप में पहचान में आती है। ऐसी पहचान जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने के फलस्वरुप प्रमाणित होना पायी गयी। सुख, शांति, संतोष, आनंद अनुभूतियाँ समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व का प्रमाण के रूप में परस्परता में बोध और प्रमाण हो जाता है। ऐसी बोध विधि का नाम ही है शिक्षा-संस्कार। शिक्षा का तात्पर्य शिष्टता पूर्ण अभिव्यक्ति से है। ऐसी शिष्टता अर्थात मानवीय पूर्ण शिष्टता समझदारी पूर्वक ईमानदारी, जिम्मेदारी, भागीदारी के रूप में प्रमाणित होना पाया जाता है। इसकी आवश्यकता के लिए जनचर्चा भी एक अवश्यंभावी क्रियाकलाप है। ज.व. (122)

हम यह पाते है, प्रत्येक मानव संतान न्याय का याचक, सही कार्य व्यवहार करने का इच्छुक, सत्य वक्ता है। बाल्यावस्था से किशोरावस्था तक संरक्षण में पोषण में भरोसा रखने वाली प्रवृत्ति मिलती है। संरक्षण पोषण के क्रम में न्याय की अपेक्षा प्रस्फुटित होती हुई देखने को मिलती है। किशोर अवस्था तक सही कार्य व्यवहार करने की इच्छाएँ आज्ञापालन, अनुसरण, सहयोग के अनुकरण के रूप में प्रवृत्तियों को देखा जाता है। यह बहुत अच्छे ढंग से समझ में आता है। यह जन चर्चा का विषय है। संवाद के लिए ये दोनो मुद्दों अच्छे ढ़ंग से सोचने, परीक्षण, निरीक्षण, सर्वेक्षण करने व्यवहार विधि से विचारो को सम्बद्ध करने में काफी उपकारी हो सकते है।

तीसरा मुद्दा देखने को मिलता है कि हर मानव संतान शिशुकाल से ही जब से बोलना जानता है तब से जो भी देखा सुना रहता है उसी को बोलने में अभ्यस्त रहता है।

इस ढ़ंग से हर मानव संतान बाल्यकाल से ही सत्य वक्ता होना आकलित होता है। जबकि सत्यबोध उनमें रहता नहीं है। शब्दों को बोलना ही बना रहता है। इससे यह भी पता लगता है मानव परम्परा का दायित्व है कि मानव संतान को सत्य बोध करायें। इसी के साथ सही कार्य, व्यवहार का प्रयोजन बोध सहित पारंगत बनाने की आवश्यकता है। न्याय बोध हर संतान को कराने का दायित्व परम्परा के पक्ष में ही जाता है। इस ढंग से बच्चों के लिए प्रेरक साहित्यो, कविताओ की रचना करने के लिए ये तीनों सार्थक प्रवृतियाँ है। मानव में प्रवृतियाँ प्रयोग और परीक्षण बहुआयामो में होना देखा गया है। ये सब जन चर्चा के लिए बिन्दुएं है। इसका निरीक्षण विधि से सोच समझ विधि से संवाद होना मानव के लिए शुभ है। ज.व. (64-65)

"न्याय का याचक" होने का परीक्षण इस प्रकार किया गया है कि समान आयु के चार बच्चे हों, एक-एक फल दें, उसमें ज्यादा देर तक उनमें संतुष्टि का होना देखा जाता है। उनमें से कोई एक जल्दी खाले अथवा गुमा दे, तब दूसरे के हाथ वाले की ओर देखने और दौड़ने-पाने की इच्छा को व्यक्त करने की बात किसी-किसी में होता है, किसी में नहीं होता है। ज्यादा से ज्यादा 40% में होता है। इसे 10 बच्चों के बीच में देखा गया है। तीसरे स्थिति में 10 में से किसी एक को दो फल दे दिया उस स्थिति में बाकी 9 में से कोई न कोई उनको भी 2 फल होने की इच्छा व्यक्त करते हैं, क्रम से सभी में आता है। चौथे स्थिति में देखा गया है कि 10 में से 9 को फल दिया गया और एक को नहीं दिया गया उस स्थिति में रोते हुए या छीनते हुए देखा गया।

इस प्रकार से विविध विधिपूर्वक अध्ययन किया गया। सार संक्षेप में हर बच्चा न्याय चाहते हैं इसी बात की पुष्टि होती है। किसी को न देने पर भी, किसी को ज्यादा देने पर भी परेशानी बढ़ती है।

इससे निष्कर्ष में यही निकलता है हम किसी को वस्तु नहीं दिया, हमारे द्वारा ही किया गया अन्याय बच्चों को घायल करता है। इसीलिये बच्चे न्याय का याचक हैं। किसी के हाथ में दो फल दिये हैं यह भी हमारे ही द्वारा किया गया अन्याय है। हमारे अन्याय के प्रति सम्मति बाकी नौ बच्चे को नहीं हो पाता है उसके व्यथा को भाँति-भाँति से व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार से कपड़े या खिलौने आदि किसी भी आधार पर सर्वेक्षण किया जा सकता है।

यह भी हम अध्ययन किये हैं हर बच्चे न्याय का अपेक्षा रखते हुए सही कार्य-व्यवहार करने का इच्छुक है।

इसे इस प्रकार से देखा गया है कि अभिभावक (माता, पिता, संरक्षक, पोषक और बच्चों से प्यार करने वाले जितने भी वयस्क व्यक्ति होते हैं) उन सबका मार्गदर्शन को और भाषा को सीखा करते हैं। इससे पता लगता है कि जितने भी सिखाने वाले वयस्क और प्रौढ़ व्यक्ति जो कुछ भी सिखाते हैं उसको बच्चे सीखते ही हैं। उनमें से जिन-जिन मुद्दे पर बच्चे विश्वास करते हैं उन्हें बराबर निर्वाह करते हैं। जिन-जिन पर शंका होती है उन पर अपनी कल्पनाशीलता को प्रयोग करते हैं। इससे पता चलता है कि सही कार्य-व्यवहार करने के इच्छुक हैं।

बच्चों में यह भी पाया गया है कि हर मानव संतान जब से बोलना आरंभ करता है, जो देखा, सुना रहता है उसी को बताने का प्रयत्न करता है और बताता है।

देखा हुआ वही रहता है जहाँ वह शरीर यात्रा को आरंभ करता है वहीं के घर-द्वार, आदमी, कुत्ता, बिल्ली, बड़े बच्चे, आकाश, धरती, सड़क ये सब देखा ही रहता है। घर के सभी सदस्यों को पहचाना ही रहता है। इस विधि से बताने की सामग्री हर बच्चे में बोलने के पहले से बना ही रहता है। इससे पता चलता है कि अभिभावक, प्रौढ़, बुजुर्ग, उनके जितने भी पुरूषार्थ कार्यकलाप, सम्भाषण, विशेषकर दृश्यमान जो देखे रहते हैं, श्रुतिमान जो सुने रहते हैं, सत्यवक्तता का आधार होना पाया जाता है। जैसे-जैसे बड़े होते हैं भाषा कोई सत्य नहीं है यह पता लगता है। भाषा से इंगित कोई वस्तु होना चाहिये इस मुद्दे पर जब जूझना शुरू होता है तो परम्परा विविध मुद्रा से प्रस्तुत होता है।

फलस्वरूप अपने मनमानी अथवा परंपरा की रूढ़ियों के अनुसार चलता है। पुनः अपने ही संतान को ऐसा कुछ विरासत में दे जाता है।

पहले यह भी स्पष्ट किया गया है राजगद्दी परम्परा से, धर्मगद्दी परंपरा से, शिक्षा गद्दी परंपरा से और व्यापार गद्दियों से सत्य सहज निष्कर्ष न निकलना ही मुख्य बात है पुनर्शोध का। इसी प्रकार धर्म और सत्य का मूल रूप किसी मानव संतान को समझ में न आकर रूढ़ियों के तहत अथवा किसी न किसी रूढ़ि के तहत अपने को समेट लेता है। शिशुकालीन देखी हुई, सुनी हुई सत्य वक्तव्य समय के अनुसार बदलते हुए स्थितियों को देखकर सत्य सदा ही अर्थ विहीन पीड़ा का कारण बना ही रहा। ऊपर कहे अनुसार सत्य संबंधी पीड़ा और अपेक्षा के साथ-साथ मानव जाति पीढ़ी से पीढ़ी, सदी से सदी, युग से युग बीतता-बीताता इस धरती पर यात्रा मोड़ अब ऐसी पेचीदा हो गई है जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है।

इस धरती पर आदमी को रहना है युगों सदियों तक, तब सत्य सहज वैभव को समझना और समझाना ही होगा। अन्यथा इस धरती पर रहना ही नहीं होगा।

वर्तमान परिस्थिति से तृप्ति सर्वसुलभ होने की स्थिति बन नही पायी। इससे सुस्पष्ट है मानव-मानव को, अस्तित्व को, जीवन को, जागृति को न समझते हुए भी विद्वता का अर्थात् ज्ञानी-विज्ञानी होने को स्वीकार करता रहा। उक्त चारों मुद्दें से इंगित तथ्य अभी तक न तो शिक्षा में आया है, न तो शिक्षा में प्रचलित है, न ही व्यवहार में मूल्यांकित है, इतना ही नहीं राज्य संविधानों में और धर्म संविधानों में उल्लेखित नहीं हो पाया है। व्याख्यायित-सूत्रीत नहीं हो पाया है। इन गवाही के साथ उपर किया गया समीक्षा स्पष्ट हो जाता है।

जीवन, जीवन जागृति, सह-अस्तित्व और मानव के अध्ययन के उपरान्त ही जीवन और जागृति सर्वमानव में, से, के लिए समानता का तथ्य लोकव्यापारीकरण होना दिखाई पड़ती है। यहाँ समझने का तात्पर्य समझाने योग्य परंपरा से ही है। शिक्षा-संस्कार परंपरा ही इसके लिए प्रधान रूप में उत्तरदायी है।

उत्पादन कार्य

मानव, मानव के साथ जो भी करता रहा उसका "व्यवहार" नाम हुआ और मानवेतर प्रकृति के साथ जो किया वह सब "उत्पादन कार्य" कहलाया। व्यवहार व उत्पादन कार्यो का निश्चित, चिन्हित क्षेत्र स्पष्ट हो गया है। जितनी भी समस्याएँ उत्पादन विधा में बनी रही उनका निराकरण उपाय खोजते रहे और मानव की आवश्यकताओं के आधार पर वस्तुओं का निर्माण कार्य किये जैसे आहार, आवास, अलंकार, दूरश्रवण, दूरदर्शन, दूरगमन वस्तुओं का मानव निर्बाध रूप से उत्पादन करने योग्य हो गये। इस क्रम में मानव अपने आश्वस्ति की जगह पहुंचने तक इन प्रौद्योगिकी विधाओं में प्रयुक्त ईंधन से उर्जा ग्रहण किये और उसके अवशेष धरती, जल और वायु को प्रदूषित कर दिया। स.श. (94-99)

उत्पादन की परिभाषा : समृद्धि के अर्थ में प्राकृतिक ऐश्वर्य पर श्रम पूर्वक स्थापित उपयोगिता एवं कला मूल्य ही उत्पादन है।

मानव परंपरा में केवल "वस्तु मूल्यों" के साथ ही जीना संभव नहीं है। जबकि भ्रमवश सर्वाधिक लोग वस्तुओं भौतिक वस्तु, सुविधा संग्रह के साथ ही जीकर सुखी होने का प्रयास कर रहे हैं, किए हैं किन्तु सुखी होने का साक्ष्य मिलता नहीं है। सुखी होने की अभिलाषा हर व्यक्ति में समीचीन है अथवा हर व्यक्ति में बनी हुई है। सुख का स्वरूप मानवीयतापूर्ण आचरण है। मानवीयतापूर्ण आचरण में मूल्य, चरित्र और नैतिकता आवर्तनशीलता और उसका संतुलन ही तृप्ति और सुख है। मूल्यों का स्वरूप जीवन मूल्य, मानव मूल्य, स्थापित मूल्य, शिष्ट मूल्य और वस्तु मूल्य के रूप में है। अ.श. (143)

इस ढंग से समझ में आता है, उत्पादनपूर्वक यथा निपुणता, कुशलतापूर्ण जीवन शक्तियों को हस्त लाघव सहित (शरीर के द्वारा) प्राकृतिक ऐश्वर्य पर स्थापित करने की क्रियाकलाप को उत्पादन कार्य नाम है। यह प्रसिद्ध है। सबको विदित है। ऐसे उत्पादित वस्तुओं को दूसरे से उत्पादित किया गया वस्तु को पाने के क्रम में हस्तांतरित कर लेना अर्थात् लेन-देन कर लेना मानव कुल में एक आवश्यकता है। यही मूलत: विनिमय के नाम से जाना जाता है। अ.श. (136-137)

विनिमय कोष

वर्तमान में इस धरती पर मानव परंपरा में लेन-देन का जो क्रियाकलाप है पत्र मुद्रा (पैसा) पर आधारित है। प्रतीक मुद्रा के रूप में छपे कागज पर एक से हजारों की संख्या लिखी रहती है और उसी के आधार पर उस मुद्रा (नोट) का मूल्य माना जाता है। ऐसे सभी कागज (नोट) वस्तुओं के अनुपलब्धता की स्थिति में एक व्यक्ति के लिए अनाज या एक व्यक्ति की प्यास बुझाने का कार्य नहीं कर सकते। आरंभिक समय में धातु मुद्रा (जैसे सोना, चांदी के सिक्के) का प्रचलन स्थापित होना इतिहास में भी अंकित है। धातुओं पर लिखे गये संख्यात्मक मूल्यों के आधार पर वस्तुओं का विनिमय आरंभ हुआ। **यहाँ**

उल्लेखनीय घटना यही है 'इसके पहले वस्तु विनिमय प्रणाली जब स्थापित हुई तब धातु मुद्रा चलन के साथ भी श्रम-मूल्य का मूल्यांकन, उसकी प्रणाली, पद्धति, नीति स्थापित नहीं हो पायी।' अ.श. (10)

वस्तु का प्रतीक धातु हुआ, धातु का प्रतीक पत्र हुआ जैसे – गेहूं के लिए पहले चांदी का सिक्का और चांदी के सिक्के के लिए पैसा। इस बीच चर्म मुद्रा भी प्रचलित होने की बात सुनने में आती है। इस प्रकार अब आधुनिक युग के अनुसार अर्थशास्त्र केवल अर्थ (धन) के अध्ययन के रूप में उभरी। अर्थ का अध्ययन वस्तु के प्रतीकात्मक मूल धातु, उसके संग्रहण, उसके तादात पर आधारित पत्र मुद्रा, पत्र मुद्राओं पर आधारित अथवा पत्र मुद्रा रूपी मूल्यों के आधार पर मूल्यांकित वस्तुओं का स्वरूप बन गई। इन सभी प्रयास में लाभ ही प्रधान तत्व हुआ।

लाभ का स्वरूप सदा ही, जब से मानव में लाभ का आशा शुरू हुआ तब से, कम देकर अधिक पाना प्रवृत्ति रहा है। कितना कम देकर कितना अधिक पावे इसका ध्रुव अभी तक प्रचलित अर्थशास्त्रों के आधार पर प्रचलित नहीं हो पायी।

अभी तक लाभ का संतुष्टि बिन्दु कहीं, किसी देश काल में नहीं मिल पायी है। इस प्रकार अंतविहिन लाभ प्रक्रिया अथवा लाभ मानसिकता सहित सभी व्यापार विद्वान होना पाया जाता है। **इससे और भी एक आकलन निष्पन्न होती है कि वस्तुओं का उत्पादन करने वाला सदैव ही गरीब रहना देखा गया।** अ.श. (12-13)

वर्तमान में जो कुछ भी अर्थव्यवस्था के नाम से स्वीकार किए है – संग्रह में, संग्रह से, संग्रह के लिए क्रियाशील होता हुआ देखने को मिलता है। अ. श. (92)

सभी वस्तुएं मुद्रा (नोट, पैसा) में बिका करते हैं और वस्तुएं मुद्रा के अधीन हैं। किंवा **मानव का श्रम भी मुद्रा के अधीन है। इसीलिए मुद्रा का संग्रहण मानव के हैसियत को पहचानने का प्रधान आधार बन गया**। इसी के साथ-साथ मुद्रा से बल और बलवान को, विद्या और विद्वान को, ज्ञान और ज्ञानवान को, पद और पदवान को, रूप और रूपवान को खरीदा जा सका है। इन पाँच में से ज्ञान और ज्ञानवान को खरीदने के-बेचने के संबंध में अभी भी वाद-विवाद के रूप में हिचकिचाते हैं। यथास्थिति के अनुसार निरीक्षण-परीक्षण करने पर पता लगता है इन पाँचों का व्यापार और व्यापार संस्थान बन चुका है। योग और ज्ञान, सम्मोहन कार्यक्रमों के आधार पर ज्ञान व्यापार को देखा जाता है। बाकी चारों के पक्ष में जो व्यापार कार्य है वह सर्वविदित है।

व्यापार का मूल उद्देश्य लाभोन्माद ही है। कम देना-ज्यादा लेना मुद्रा के रूप में एवं वस्तु के रूप में भी। कुछ भी नहीं देना, आश्वासनों के आधार पर ही वस्तु और मुद्रा को एकत्रित कर लेना ही दुष्टतम ज्ञान व्यापार है। संसार को बुद्धू बनाने की कला इसमें समाहित रहती है। अ.श. (94-95)

1. व्यापार विधि से समाज नहीं बन सकता।
2. व्यापार विधि से समुदायों में अन्तर्विरोध मिट नहीं सकता।
3. व्यापार विधि से बैर विहिन परिवार हो नहीं सकते, समझौते में भले ही सांत्वना पाते रहे।
4. व्यापार विधि से "धर्म" सफल नहीं हो सकता।
5. व्यापार विधि से कोई राष्ट्र राज्य-व्यवस्था सार्वभौम, अखंड और अक्षुण्ण नहीं हो सकती।
6. व्यापार विधि से कोई भी व्यक्ति समृद्ध नहीं हो सकता (मात्र संग्रह कर सकता है)। क्योकि संग्रह सुविधा और लाभ का तृप्ति बिन्दु नहीं होता।
7. व्यापार विधि से सार्वभौम शुभ (समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व) घटित नहीं हो सकता।

इन निष्कर्षों के साथ ही विकल्प की ओर दृष्टिपात करना एक आवश्यकता है। विकल्प के रूप में, लाभ- हानी मुक्त विनिमय श्रम मूल्य के आधार पर प्रस्तावित है। यह न्यायिक है।

न्याय सुरक्षा

परिभाषा :- संबंधों का पहचान, मूल्यों का निर्वाह, मूल्यांकन, उभय तृप्ति ही "न्याय" है। अर्थात "सुरक्षा" अलग कार्यक्रम नही है। न्याय होने से सुरक्षा अपने आप होता है। न्याय पूर्वक जीते है तो सुख अपने आप होता है। अ.श. (17)

मानव के जागृति क्रम विधि से पारिवारिक और सामूहिक रूप में किये गये कृत्यों के आधार पर पीड़ा बलवती होने का स्वरूप को स्पष्ट किया गया। इसी से व्यवहारिक रूप में भ्रम और बन्धन परस्पर मानव के बीच में द्वेष के रूप में, परिवार-परिवार एवं समुदाय-समुदाय के बीच में वैचारिक मतभेद, ईर्ष्या, द्वेष, भय, संघर्ष के रूप में होना देखा गया। मानसिकता के रूप में अर्थात् आशा, विचार, इच्छा के रूप में व्यक्तिवादी अहमताएँ श्रेष्ठता, संग्रह, भोग के आधार पर गण्य हुई।

जीवन अपने क्रिया के रूप में आस्वादन, विश्लेषण से अधिकाधिक चित्रण क्रिया को सम्पादित किया।

सम्पूर्ण चित्रण इसी धरती के वस्तुओं को उपयोग करते हुए प्रमाणित करने की विधि तैयार हुई। इस प्रकार से धरती के वस्तुओं को सर्वाधिक दोहन करने के फलस्वरूप धरती का ही संतुलन, भाँति-भाँति विधि से खंडित होना आंकलित हुआ। यही सर्वाधिक पीड़ा का आधार हुआ। अभी भी बुद्धिजीवी और विज्ञानियों में से बुद्धिजीवी अपने बुद्धिवादिता के आधार पर धरती और धरती के वातावरण के असंतुलन में अपनी भागीदारी को कम स्वीकारते हैं। दूसरी ओर विज्ञान और प्रौद्योगिकी संसार में भागीदारी करता हुआ विज्ञानी, मनीषीयों में अपने को धरती के असंतुलन में प्रधान कारक तत्व होने की स्थिति को कम लोग स्वीकारते हैं। इस मुद्दे पर पीड़ित लोगों की संख्या अभी भी न्यूनतम ही है। फिर भी पीड़ित लोगो का संख्या बढ़ रही है।

तात्विक रूप में अर्थात् जीवन अपने तत्व रूप में न्याय दृष्टि की क्रियाशीलता के लिए एक तड़प अथवा प्यास उत्पन्न हो चुकी है।

विगत 50 वर्ष से शैशवकालीन मानसिकता में जन्म से ही न्याय का अपेक्षा बना रहना सर्वेक्षित हुआ। कुछ समाज सेवी संस्था भी न्याय के नाम से अपेक्षाओं को व्यक्त करते ही है। इस दशक तक न्यायालयों में न्याय का स्वरूप स्पष्ट नहीं है। लोक मानसिकता में न्याय सहज अपेक्षा बढ़ता हुआ देखने को मिलता है। प्रिय, हित, लाभ दृष्टियों से अभी तक किये गये क्रिया-कलापों से अधिकांश पराभव, विरक्ति ही हाथ लगा है। यहाँ विरक्ति का तात्पर्य किया गया का व्यर्थता को स्वीकारने से है। यह जीवन क्रिया सहज जागृति क्रम का एक सूत्र है। अ.व. (132-134)

जबकि बच्चों में यह देखा गया है, शिशु, कौमार्य सहज सौंदर्य उनमें रहता ही है, साथ ही सामने आयु वर्ग के आदमी रहे हों, दादाजी, अंकल, चाचाजी और भाई कहने योग्य हों, ऐसे संबोधन के प्रभाव में व्यक्ति पर अपना-पराया का प्रभाव, ऐसे बच्चों के बीच में बाधा नहीं डालता, निष्प्रभावी हो जाता है। दूसरी जो स्थिति बताई गई उसमें परस्पर आगन्तुकता युवा, प्रौढ और वृद्ध की हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में यह देखने को मिलता हैं कि अपने-पराए के आधार पर ही संबोधन की स्वागत कराने के बीच में अवरोध पैदा कर देता है इसलिए कुछ लोग स्वागत कर पाते हैं, कुछ लोग आंशिक रूप में स्वागत करते हैं, तो कुछ लोग बिल्कुल भी स्वागत नहीं करते। इन तीनों स्थितियों को इस प्रकार परंपरा के भ्रमवश, परंपरा से आई हुई मान्यताओं के साथ अपना पराया होता ही है। प्रचलन में न्याय व्यवस्था भी इसी कठघरे में गिरफ्त है। भ. व. (179-180)

अभी न्यायालय में न्याय की पहचान नहीं हो पायी है। अभी तक न्यायालय में फैसले का सिलसिला चल रहा है वह भी गवाहियो के आधार पर ना कि घटना के आधार पर। न्याय के पक्ष में निर्णय के साथ सुधार का कोई कार्यक्रम नहीं रहा।

अपराधी को न्यायिक बनाने की कोई व्यवस्था नहीं है। गलती करने वालो को सही करने की दिशा देने की कोई व्यवस्था नहीं है। इसके मूल में सभी मानव यदि समझदार होते है तो गलती और अपराध करेगें ही नहीं, गलती अपराध मुक्त होना ही समाधान सम्पन्नता है। समाधान सम्पन्न मानसिकता से हर व्यक्ति परस्परता मे न्याय ही करता है अन्याय कर ही नहीं सकता। सभी मानव अपने में से न्यायिक होने के उपरान्त अन्याय का खतरा ही कहां है ?

सारे अपराध, अन्याय और गलतियाँ मानव के नासमझी की उपज है। समझदारी के उपरान्त मानव का आचरण निर्धारित हो जाता है ध्रुव बिन्दु यही है।

जब आचरण निश्चित, स्थिर, निरन्तर प्रभावशील होने लगता है तब भरोसा, विश्वास और सुन्दर कार्यक्रम उदयशील होते है यही समझदार व्यक्ति की महिमा है। समझदार मानव अपने में आश्वस्त रहकर विश्वास पूर्ण विधि से कार्य करने में समर्थ होता है। गलती, अन्याय मुक्ति के लिए हर नर नारी में स्वयं में विश्वास, श्रेष्ठता का सम्मान, प्रतिभा (समझदारी) और व्यक्तित्व (आहार, विहार, व्यवहार) में सन्तुलन, व्यवसाय (उत्पादन) में स्वावलम्बन, व्यवहार मे सामाजिक अर्थात अखंड समाज में भागीदारी होना आवश्यकता है। यह मानव वैभव का मूल स्वरूप है। यह समझदारी का भी फलन है। पद, पैसा, सम्मान पर विश्वास किया जाए अथवा इन छ: महिमा में विश्वास किया जाए। इस पर जनचर्चा, विश्लेषण, निष्कर्ष की आवश्यकता है ही। ज. व. (159)

अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था – निष्कर्ष

जैसे, हिन्दू धर्म, सिक्ख धर्म, मुस्लिम धर्म, ईसाई धर्म, पारसी धर्म, यूनानी धर्म, हरिजन धर्म, आदिवासी धर्म आदि और इसी प्रकार बहुत से धर्मों को गिनाया गया है। बहुत सारे धर्मों के आधार पर समुदाय चेतना देखने को मिलती है। किसी एक समुदाय के आधार पर, मान्यता भले ही रुढ़ि के रूप में क्यों न हो, ऐसा होने के बाद स्वाभाविक रूप में उनके लिए बाकी सभी पराए हो ही जाते हैं। इस प्रकार अपने-पराए का चक्कर सभी व्यक्तियों के साथ प्रकारान्तर से चला है अथवा सर्वाधिक व्यक्तियों के साथ यह चक्कर लगा हुआ है। 'समाज' मानव समाज ही होता है। "मानवत्व" मानव चेतना सम्पन्न परंपरा ही धर्म और राज्य का आधार होता है। समाज परंपरा में व्यवस्था होती है।

समाज अखण्ड होता है। समाज समुदाय नहीं होता है। समुदाय समाज (अखण्ड) नहीं होता। सामुदायिक व्यवस्था "सार्वभौम" नहीं होते, इसकी गवाही मानव को मिल चुकी है।

अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था का मूल सूत्र एक ही हैं यह है समाधान। समाधान=सुख। समाधान=व्यवस्था। संबंधों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह, मूल्याकंन क्रिया - ये समाधान है। फलस्वरुप सुखी होना पाया जाता है। स्वयं में व्यवस्था, व्यवस्था में भागीदारी ही समाधान, समाधान ही सुख, शांति, संतोष, आनंद है। मानव धर्म सुख ही है। यह जागृति का द्योतक हैं। न्याय पूर्वक सुख और शांति, व्यवस्था (धर्म) पूर्वक शांति और संतोष, तथा अनुभव पूर्वक संतोष और आनंद जीवन में प्रमाणित होता है। प्रत्येक मानव इसे अनुभव कर सकता है।

ऐसे अखण्ड समाज- परिवार मूलक व्यवस्था, विश्व परिवार में व्यवहार रूप दे सकता है।

व्यवस्था कम से कम 100 से 200 परिवारों के बीच में, अर्थात् 1000 से 2000 जनसंख्या के बीच स्वायत्त विधि से सफल हो सकती है। स्वराज्य की परिभाषा ही हैं - स्वयं का वैभव, स्वयं का स्वरुप मानव, मानव के समान वस्तु जीवन है। जीवन का संबोधन "स्वयं" अथवा "स्व" है। इस प्रकार जीवन का वैभव ही राज्य है। अस्तु, जीवन का वैभव- स्वराज्य। जीवन वैभव जागृति की अभिव्यक्ति हैं। जागृति का अर्थ सर्वतोमुखी समाधान एवं प्रामाणिकता है। इसका व्यवहार रूप परिवार परंपरा में समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व है।

यही एक परिवार से विश्व परिवार तक प्रमाणित होने की वस्तुएँ हैं। इसके क्रियान्वयन क्रम में सर्वमानव के लिए न्याय सुलभता, उत्पादन सुलभता, विनिमय सुलभता लक्ष्य है। इसकी अक्षुण्णता के लिए शिक्षा-संस्कार, स्वास्थ्य-संयम सहज सुलभ रहेगा।

इसको ही ग्राम स्वराज्य व्यवस्था का रूप देने के क्रम में दस सदस्यीय परिवार स्वयं अपने एक परिवार के प्रतिनिधि को, पहचानने की व्यवस्था रहेगी। हर दस (10) परिवार से एक एक सदस्य "परिवार समूह सभा" के लिए निर्वाचन पूर्वक पहचान करेगा। ऐसे दस परिवार समूह सभा अपने में से एक एक व्यक्ति को ग्राम परिवार सभा के लिए निर्वाचन पूर्वक पहचान करेगा। ग्राम सभा में समाहित दस (10) व्यक्तियों में से सभा प्रधान को पहचाने रहेंगे। ग्राम सभा, "स्वराज्य कार्य संचालन" समितियों को, मनोनीत करेगी। ऐसी समितियाँ पाँच होगी -

1. शिक्षा-संस्कार समिति
2. न्याय सुरक्षा समिति
3. स्वास्थ्य संयम समिति
4. उत्पादन कार्य समिति
5. विनिमय कोष समिति

इन सबके अपने-अपने कार्य परिभाषित, व्याख्यायित रहेंगे।

ऊपर कहे स्वराज्य व्यवस्था में सभी समितियाँ सहित ढाँचे का स्वरुप-निम्नलिखित सभी स्तरों में, निर्वाचन कार्य में दस व्यक्तियों के बीच, एक व्यक्ति होगा। ग्राम सभा तक त्रि-स्तरीय समितियाँ होना आवश्यक है। चौथा - ग्राम समूह सभा। पाँचवाँ - क्षेत्र सभा। छठा - मंडल सभा। सातवाँ - मण्डल समूह सभा। आठवाँ - मुख्य राज्य सभा। नवमा - प्रधान राज्य सभा। दसवाँ - विश्व परिवार स्वराज्य सभा। इस विधि से निर्वाचन कार्य में धन या वस्तु लगने की आशंका समाप्त हो जाती है। धन या वस्तु के साथ निर्वाचन कार्य को जोड़ना स्वयं निर्वाचन कार्य की पवित्रता का हनन सिद्ध हुआ हैं। इसका साक्ष्य मानव को मिल चुका हैं।

परिवार मूलक स्वराज्य, समझदारी मूलक स्वायत्त मानव परिवार है। समझदारी की संपूर्णता ही जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन एवम् मानवीयतापूर्ण आचरण है। व्यवस्था के क्रियान्वयन करने के मूल में, प्रत्येक परिवार को जीवन विद्या में पारंगत बनाने की व्यवस्था रहेगी। भ.व. (180 -183)

3.3.2 परंपरा जागृत होने की आवश्यकता

मानव परंपरा तब तक भ्रमित रहना भावी है जब तक समुदाय और समुदायगत आवश्यकता की हठधर्मिता, सुविधा संग्रह की हठधर्मिता, भोग-अतिभोगवादी हठधर्मिता, आदमी को मूलत: दुखी मानने वाली हठधर्मिता, स्वार्थी, अज्ञानी और पापी मानने वाली हठधर्मिता, कोई एक समुदाय अपने को धर्मी अन्य को विधर्मी मानने की हठधर्मिता, द्रोह-विद्रोह-शोषण और युद्ध को एक आवश्यकता मानने वाली हठधर्मिता, व्यक्तिवादी (अहमतावादी) मानसिकता के लिये सभी हठधर्मिता रहेगी।

इसका निराकरण जागृति ही है। जागृति पूर्ण परंपरा मे ही अर्थात् जागृत शिक्षा-संस्कार, जागृत न्याय व्यवस्था और जागृत उत्पादन कार्य-व्यवस्था, जागृत लाभ-हानि मुक्त विनिमय व्यवस्था और जागृत स्वास्थ्य संयम पीढ़ी से पीढ़ी को सुलभ होने से है।

ऐसी जागृत पूर्ण परंपरा में पीढ़ी से पीढ़ी जागृत होते ही रहना एक अक्षुण्ण परंपरा है। ऐसी परंपरा में अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था सर्वसुलभ होने की कार्यप्रणाली, पद्धति, नीति क्रियाशील रहेगी फलत: विविध प्रकार से समुदायों को अपनाया हुआ भ्रम अपने आप विलय होना स्वाभाविक है। यह अनुभव मूलक जीने के क्रम में पाया जाने वाला वैभव है। उक्त उदाहरण के क्रम में ही जागृत परंपरा में प्रवाहित मानव परंपरा के महिमावश सम्पूर्ण हठधर्मिताएँ विलय हो जाते हैं। जैसे-सही गणितीय ज्ञान के उपरान्त गणित में होने वाली कोई गलतियां शेष नहीं रहती हैं, इसी प्रकार जागृति सहज रूप में जीने के क्रम में सम्पूर्ण भ्रम विलय होता है। जैसा-संग्रह सुविधा रूपी हठधर्मिता और विवशताएँ समृद्धि पूर्ण होने के साथ-साथ विलय होना देखा गया है।

हठधर्मिता जो व्यक्तिवादी (अहमतावादी) मानसिकता के लिये जिम्मेदार है उसके मूल में समाज विरोधी सूत्र सदा ही पनपते आई है।

क्योंकि समाज, व्यवस्था और समग्र व्यवस्था जो अस्तित्व सहज है, इसे स्पष्टतया समझने के स्थिति में हम यह पाते हैं कि यह अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व सूत्र ही है। सह-अस्तित्व सूत्र के आधार पर ही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था हमें विदित हुआ है। इस तथ्य के आधार पर मानव जब तक जागृतिपूर्ण होता है तब तक भले ही ऊपर कहे हुए वितण्डावाद रहे आये। जैसे ही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था परंपरा में प्रमाणित होते है, व्यक्तिवादी अहमताएँ अपने आप ही विलय को प्राप्त करते हैं।

जागृति परम्परा की आवश्यकता इस दशक में बढ़ रही है, जो मानवतावादी दृष्टिकोण को विकसित करने के स्वरों के रूप में, सुनने को मिलता है।

कम से कम, इस दशक में मानवतावादी दृष्टिकोण की आवश्यकता पर बल देने वाली गोष्ठियां सभी स्तरों पर पाई जाती हैं। इसलिए मानव परम्परा जागृत होने की संभावना समीचीन होती है। जागृति के आधार पर मानव संचेतना सहज वर्तमान में सभी समुदाय चेतनाएं विलय होने की घटना की संभावना समीचीन हो चुकी है। क्योंकि आदर्शवाद और भौतिकवाद सदूर विगत से अभी तक जो कुछ भी समुदायों और वर्गों का संघर्ष मतभेद और शक्ति प्रयोग (संघर्ष और सामरिक विधि से) करता हुआ मानव तंत्र के परिणाम स्वरूप आज की स्थिति में प्रदूषण, बढ़ती हुई जनसंख्या, धरती का तापमान, बढ़ती हुई समुद्र की सतह, ये सब प्रधान संकट हैं। अ.व. (21-23)

इस प्रकार मानव कुल के द्वारा भ्रमवश किये हुए सभी भूलों का सुधार समाधान सहित व्यवस्था क्रम में हो सकता है। अस्तित्व सहज एवं मानव सहज व्यवस्था का अध्ययन ही मूलत: नैसर्गिक मानव की पारंपरिक व्यवस्था का सहज अध्ययन है, जो स्वयं जागृति का प्रमाण हैं। संर्पूण जागृति, सर्वतोमुखी समाधान, प्रामाणिकता और लोक न्याय के रूप में वैभवित हो पाते हैं। फलत: समृद्धि और अभय मानव में, से, के लिए सुलभ हो जाता हैं। सभी कार्यों के साथ मानव परंपरा का परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था के रूप में अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में वैभवित होना संभव हैं। जिसकी आवश्यकता सर्वमानव में पाई जाती हैं अथवा स्वीकृति सर्वमानव में पाई जाती हैं। इसलिए परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था कार्यक्रम को प्रमाणों के आधार पर अपनाना चाहिए।

परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था विधि से ही न्याय-सुलभता और लाभ-हानि मुक्त विनिमय सुलभता संभव हो जाती हैं। ऐसा संभव होने पर संग्रह के स्थान पर समृद्ध होना ही हैं।

प्रत्येक परिवार मानव आवश्यकता से अधिक उत्पादन करने के क्रम में समृद्धि का अनुभव करता हैं। न्याय सुलभ होने से मानव वर्तमान में विश्वास करता ही हैं। फलत: सभी ओर समाधान नजर आता है। इसी सत्यतावश समृद्धि सहित परिवार मानव व्यवस्था के रूप में प्रमाणित हो जाता है। हर परिवार में आवश्यकता से अधिक उत्पादन होने के आधार पर प्रत्येक परिवार में शरीर पोषण, संरक्षण और समाज गति के अर्थ में निश्चित उत्पादन-कार्य विधिवत् निर्धारित रहना संभव हो जाता हैं। फलस्वरुप उत्पादन सुलभता का अनुभव होना सहज हैं।

इस प्रकार न्याय सुलभता, उत्पादन सुलभता, विनिमय सुलभता सहज आवर्तनशील वैभव, स्वयं नित्य उत्सव के रूप में स्वराज्य व्यवस्था को प्रमाणित कर देता हैं। ऐसे उत्सव के अभिन्न अंगभूत मानवीय शिक्षा-संस्कार और स्वास्थ्य संयम सहज कार्यक्रम मानव कुल में व्यवहृत होता ही रहेगा।

(इस अध्याय में मानव- मानव संबंध- परिवार – समाज व्यवस्था पर चर्चा रही अगले अध्याय में मानव प्रकृति संबंध, यथा नैसर्गिक संबंध पर चर्चा जारी) भ. व. (337 – 338)

अध्याय 4 - नैसर्गिक संबंध (प्रकृति में व्यवस्था)

4.1 संदर्भ

मानव में यह पूरकता विधि संबंधों को पहचानने के आधार पर या संबंधों को निर्वाह करने के प्रमाणों के आधार पर सार्थक होती हैं। प्रत्येक मानव में यह अध्ययनगम्य होता हैं कि जहाँ-जहाँ हम संबंधों को पहचान पाते हैं, वहाँ-वहाँ मूल्यों का निर्वाह होना पाया जाता है। इस तथ्य के आधार पर अस्तित्व में परस्पर संबंध एक मौलिक अनुबंध है। भ.व. (105)

मानव संबंध के अतिरिक्त नैसर्गिक एवं ब्रह्माण्डीय संबंध भी बना ही रहता है। नैसर्गिक संबंध सहज प्रक्रिया मानव में, से, के लिये अविभाज्य है। धरती, वायु, जल के साथ ही मानव शरीर परंपरा का होना पाया जाता है। ऐसी शरीर परंपरा स्वस्थ रहने की आवश्यकता है ही। शरीर स्वस्थता की परिभाषा पहले की जा चुकी है। जीवन जागृति पूर्वक परंपरा में व्यक्त होने योग्य शरीर ही स्वस्थ शरीर है। यह शरीर संतुलन का तात्पर्य है। नैसर्गिकता की पवित्रता इसके लिये एक अनिवार्य विधि है।

इसी के साथ ऋतु संतुलन इस धरती पर उष्मा वितरण - विनियोजन कार्यक्रम में सशक्त भूमिका है। यह धरती अपने में एक व्यवस्था है।

वातावरणिक और भूमिगत उष्मा धरती के ऊपरी सतह में संतुलन को बनाए रखने के लिये ऋतु संतुलित कार्यकलाप ही महत्वपूर्ण भूमिका है। ऋतु वातावरिणक उष्मा को भूमिगत करने और उसे आवश्यकतानुसार धरती अपने सतह में उपयोग करने के क्रम को बनाए रखता है। यथा आप हम सब इस बात को देखे हैं जैसे ही ठंडी ऋतु प्रभावित होता है वैसे ही धरती से उष्मा बर्हिगत होता हुआ दिखाई पड़ती है जिससे धरती के ऊपरी सतह में जो चारों अवस्था है उन्हें संतुलन प्रदान करता है। ग्रीष्म ऋतु में धरती अपने ऊपरी सतह के श्वसन द्वारा उष्मा सहित विरल द्रव्यों को अपने में समा लेता है। इसका विधि बाह्य वातावरण में उष्मा का दबाव अधिक होने, और धरती के ऊपरी सतह के कुछ नीचे तक कम होने के आधार पर क्रिया सम्पन्न होती है।

इसे हर देश काल में परीक्षण किया जा सकता है, स्वीकारा जा सकता है।

वर्षाकाल में धरती के सतहगत उष्मा और वातावरणिक उष्मा संतुलन स्थापित करने और उसे संरक्षित कर रखने का क्रियाकलाप दिखाई देता है। फलस्वरूप सम्पूर्ण फल, वृक्ष, पौधे फलवती होने का कार्य दिखाई पड़ती है। इससे स्पष्ट हो गया है कि धरती की ऊपरी सतह में संतुलन विधि से वर्षाकालीन, शीतकालीन और उष्णकालीन अन्न-वनस्पतियों को पहचाना जाता है। इसे संतुलित बनाए रखना, इसके लिये मानव स्वयं पूरक होना ही नैसर्गिक संतुलन का तात्पर्य है।

ये सब अर्थात् मानव संबंध, नैसर्गिक संबंध, ब्रह्माण्डीय संबंध निरन्तर वर्तमान है ही। इनके प्रति जागृत होना ही संबंधों को पहचानना - मूल्यों को निर्वाह करने का तात्पर्य है। मूल्यांकन विधि से उभयतृप्ति का प्रमाण होता है। स .श. (85-87)

सभी संबंधों में किंवा नैसर्गिक सम्बंधों में भी समाधान, पुष्टि, पोषण, संरक्षण की अपेक्षा आवश्यकता, प्रवृत्ति जीवन सहज रूप में आंशिक रूप में भ्रमित अवस्था में भी होता है। इसमें पूर्ण जागृत होने की संभावना समीचीन है। अ.व. (171)

4.2 उत्पादन एवं समृद्धि

परिचय

व्यवसाय में स्वावलंबन एक आवश्यकीय प्रक्रिया है। मानव में, से, के लिये आवश्यकताएँ दो रूप में पाया जाता है - 1. सामान्य आकांक्षा 2. महत्वाकांक्षा से संबंधित वस्तु और उपकरण। सामान्याकांक्षा में वांछित (आवश्यक) वस्तुएँ आहार, आवास, अलंकार कार्यों में उपयोगी होना पाया जाता है। शरीर पुष्टि और संरक्षण के रूप में आहार को, संरक्षण के अर्थ में आवास और अलंकार को उपयोगी होना पाया जाता है। महत्वाकांक्षा संबंधी वस्तुएँ ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के गति सीमा से अधिक गति के लिये दूर-श्रवण, दूरदर्शन, दूरगमन का प्रयोजन देखने को मिलता है। इसे पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है।

उल्लेखनीय तथ्य यही है कि सामान्य आकांक्षा संबंधी वस्तुओं (आहार, आवास, अलंकार) से ही समृद्धि का प्रकाशन हो पाता है। महत्वाकांक्षा संबंधी वस्तुएँ (दूर-श्रवण, दूरदर्शन, दूरगमन) समय-समय पर दूर-संचार समाज गति में पूरक रूप में उपयोगी होते हुए समृद्धि का आधार नहीं बन पाता है।

गति और शीघ्रता के आधार पर इसका मूल्यांकन हो पाता है। अतएव इन यंत्रों के न्यूनतम उपयोग से ही अथवा आवश्यकता विधि से इसका उपयोग करना ही इसके वैभव का प्रमाण है। इन वस्तुओं का राक्षसी, पाशवीय विधि से कितना भी उपयोग करे वह एक व्यसन के रूप में दिखाई पड़ेगा न कि समृद्धि के रूप में। इसको इस धरती के सम्पूर्ण मानव देख चुके हैं। कोई बचा होगा वह देख भी सकता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि सामान्य आकांक्षा संबंधी वस्तु-उपकरण समृद्धि का द्योतक है और इसकी सम्भावना भी समीचीन है। महत्वाकांक्षा संबंधी वस्तुओं का अधिकता होने के उपरान्त भी समृद्धि का अर्थ पूरा नहीं होता है। इनका अम्बार लगाने के क्रम में ही धरती का पेट फाड़ने की गति त्वरित हुई है।

सामान्य आकांक्षा संबंधी वस्तुओं को पाने के लिये धरती को तंग करने की आवश्यकता उत्पन्न ही नहीं होता क्योंकि धरती के पेट में आहार, आवास, अलंकार संबंधी वस्तुएँ न्यूनतम है और ये वस्तुएँ धरती के ऊपरी सतह से ही प्राप्त हो जाती है।

आहार के लिये कृषि, अलंकार के लिये भी कृषि और वन्य उपज पर्याप्त होता है। आवास के लिये भी धरती की ऊपरी सतह में मिलने वाले द्रव्यों से सुखद आवास स्थली को पाया जा सकता है। मानसिकता जागृत और भ्रमित का द्योतक है। मानव ही जागृत अथवा भ्रमित मानसिकता के आधार पर ही कार्य-व्यवहारों को निश्चय करता है। भ्रमित मानसिकता विधि से ही भय, प्रलोभन, स्वर्गाकांक्षा और उपभोक्ता विधि ही मानव के पल्ले पड़ता है और पड़ा ही है। जागृति सहज विधि से आवश्यकताएँ समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्वपूर्ण विधि से जीने की कला है। व्य.श. (88-90)

अतः उत्पादन को इस प्रकार से समज सकते है:-

1. प्राकृतिक ऐश्वर्य पर कार्य (श्रम) नियोजनपूर्वक उपयोगिता व कला मूल्यों की स्थापना सहित सामान्य आकाँक्षा और महत्वाकाँक्षा के रूप में वस्तुओं को रूप प्रदान करने की क्रिया।
2. मानव द्वारा मानवेत्तर प्रकृति पर उपयोगिता एवं सुन्दरता की स्थापना किया जाना।
3. उपयोगिता मूल्य एवं उत्थान की दिशा में तन, मन और प्राकृतिक ऐश्वर्य में किया गया गुणात्मक परिवर्तन। अ.श. (242)

आवश्यकता निश्चित है, साधन पर्याप्त है

सम्पूर्ण आवश्यकताएँ शरीर पोषण, संरक्षण और समाज गति में ही उपयोगी, सदुपयोगी, प्रयोजनशील है। इसी स्पष्ट नजरिये से जीवन ज्ञान सम्पन्न हर मानव को आवश्यकताएँ सीमित दिखाई पड़ती हैं और आवश्यकता के अनुरूप उत्पादन श्रम शक्ति मूलत: जीवन शक्ति की ही अक्षय महिमा होने के आधार पर आवश्यकता से अधिक उत्पादन में विश्वास स्वाभाविक है। यह स्वायत्त मानव में अभिव्यक्त होने वाले आयामों में से उत्पादन-कार्य भी एक आयाम है। इस विधि से शरीर के पोषण, संरक्षण, सदुपयोग तथा समाज गति के अर्थ में आवश्यकताएँ सीमित संयत होना पाया जाता है। इसी सूत्र के आधार पर अपने उत्पादन कार्यों को विभिन्न वस्तुओं के रूप में परिणित करने में निष्ठान्वित होते हैं। अ.श. (238)

समृद्धि का आधार सूत्र:- मनुष्य में श्रम नियोजन की क्षमता, सदा ही बनी रहती है। जीवन शक्तियाँ अक्षय है, इस कारण मानव आवश्यकता से साधिक वस्तुओं को निर्मित करने का अधिकार सम्पन्न है ही। मानव में अक्षय बाल और अक्षय शक्ति को पहचाना जाता है, यही सूत्र मानव के समृद्धि होने का आधार है। भ. व. (281-284)

हम मानव इन सब वस्तुओ को सुखी होने के लिए पाना चाहता है। किन्तु एक व्यक्ति जितना संग्रह कर लेता है उतना सब के पास नहीं होता है। यह भी जनचर्चा का एक मुद्दा है। ये सारी सुविधाएँ सबको कैसे मिल सकती है ? क्या करना होगा? इसको निर्धारित करना भी एक मुद्दा है। मानव कुल शरीर पोषण, संरक्षण, समाज गति में तृप्त होने का इच्छुक रहा ही है। यही इच्छा पूर्ति नहीं हो पाई क्योंकि संग्रह और सुविधा के अर्थ में सारे वस्तुओ को मूल्यांकित करने की आदत मानव में समावेशित हो चुकी है। संग्रह, सुविधा का तृप्ति बिन्दु को पहचानने के पक्ष में परामर्श करने पर पता चलता है कि इन दोनों का तृप्ति बिन्दु मिलता नहीं।

मानव परम्परा के इतिहास के अनुसार सामान्य और महत्वाकांक्षा सम्बंधी वस्तुओं की उपलब्धि जैसे-जैसे हुई उससे तृप्त होने की इच्छा मानव में होती रही।

उसके बाद किसी वस्तु की कमी महसूस होती थी तो उसके मिलने से तृप्त हो जायेगें, सुखी हो जायेंगे ऐसा सोचते थे। संयोग वश आज सभी वस्तुएँ उपलब्ध हो गई, कई लोग प्राप्त भी कर लिये, इसके बावजूद सुखी होने का लक्षण कहीं उदय हुआ नहीं। इस आधार पर मानव का लक्ष्य क्या हो सकता है ? इस मुद्दे पर परामर्श पूर्वक सर्वेक्षण करने पर पता चलता है कि मानव सुविधा संग्रह, भोग, अतिभोग की ओर प्रवृतित होता देखा गया। यह भी तृप्ति विहीन प्रयोग साबित हुआ। इस क्रम में पुन: विचार की आवश्यकता हुई।

भ्रमवश हम मानव यही कहते रहे हैं कि आवश्यकता अनंत है साधन सीमित हैं। इसलिए संघर्ष करना जरूरी है।

छीना-झपटी, शोषण ही संघर्ष का रूप हुआ। ऐसे घृणित कार्य करते हुए भी श्रेष्ठता का दावा किया, बेहतरीन जिन्दगी का दावा किया। यह कहाँ तक न्याय हुआ ? इस मुद्दे पर भी जनचर्चा की आवश्यकता है। भ्रमित जन मानस में भी न्याय, धर्म, सत्य की अपेक्षा रूप में स्वीकृति बनी हुई है किन्तु उसी के साथ-साथ परम्परा में इसकी प्रामाणिकता की उपलब्धता नहीं रहने के कारण मानव अपने अपने तरीके से जीवों से अच्छा जीने के स्वरूप को बना लेता है।

जीने के क्रम में आहार, विहार, व्यवहार, उत्पादन, कार्य का निश्चयन आवश्यक है। प्रकारान्तर से मानव इसे अनुसरण किये रहता है।

समाधान के लिए समझदारी का होना अनिवार्य है। समझदारी के प्रयोग से हम समाधान पाते है। समाधान के उपरांत ही परिवारगत आवश्यता से अधिक उत्पादन करने का तौर तरीका सुलभ होता है, संभावना पहले से ही रहती है। समाधान के लिए समझदारी का होना अनिवार्य है। समझदारी के प्रयोग से ही हम समाधान पाते है। समाधान के उपरान्त ही परिवारगत आवश्यकता से अधिक उत्पादन करने का तौर तरीका सुलभ होता है, सम्भावना पहले से ही रहती है। ज.व. (112-115)

इस ढंग से आवश्यकता मानवीयता में संयत होना पाया जाता है। इसी में अपव्यय का अभाव होता है। अपव्यय ही मानव जीवन में परम घातक प्रक्रिया है। इसके साक्ष्य में यह देखा जाता है कि एक व्यक्ति द्वारा किया गया अविष्कार अनेक से स्वीकार्य होता है, जबकि अनेक से किया गया अपराध एक को भी स्वीकार कराने में समर्थ नहीं रहा। वे स्वयं उसको

अस्वीकार किए रहते हैं। अपव्यय एवं अपराध मानव की वांछित उपलब्धि नहीं है। यही सत्यता बाध्य करती है कि मानव मानवीयतापूर्ण जीवन यापन करें। अ.द. (149)

समृद्धि का आधार "वस्तु" है, न कि "पत्र मुद्दा"

धन को वस्तु में परिणित कराने की स्थिति में हम यह पाते हैं कि किसी वस्तु को 50 वर्ष पूर्व की तुलना में किसी का 100 गुना, किसी का 50 गुना, 'प्रतीक मूल्य' बढ़ा हुआ दिखता है। यथा 50 वर्ष पहले एक बोरी सीमेंट का मूल्य 1 रुपए रहा। आज 100 रुपए हो गई। 50 वर्ष पहले सोना 40 रुपए था, अभी 4000 रुपए हो गया। 50 वर्ष पूर्व 1 रुपए में 5 किलो चावल मिलता था। अभी 5 रुपए में एक किलो चावल से 35 रुपए में एक किलो चावल मिलता है। चावल, सोना और सीमेंट उस समय भी उतना ही मूल्यवाहक रहा है, जितना आज है। परिवर्तन केवल प्रतीक मुद्रा का रहा है। अ.श. (110)

समृद्धि सामान्य आकांक्षा और महत्वाकांक्षा संबंधी वस्तुओं के आधार पर हो पाता है न कि मुद्रा के आधार पर। इसका दूसरा भी गवाही यही है सामान्य आकांक्षा और महत्वाकांक्षा के वस्तुओं से ही मानव का तृप्ति अथवा सर्वमानव का तृप्ति है न कि मुद्रा (पत्र मुद्रा = नोट-पैसा) से। मुद्रा कितना भी होने पर वस्तु न होने की स्थिति बन सकती है। इसलिए **मुद्रा से तृप्ति की संप्रभुता देखने को नहीं मिलती है। जबकि वस्तु हो, स्वस्थ मानव, तृप्ति पाने की संप्रभुता प्रमाणित हो जाती है**। अ.श. (105)

वस्तुओं को संग्रह, भोग, अतिभोग की ओर प्रयोग करने का कार्य मानव विगत कई शताब्दियों से करता आया है। इसके लिए लाभोन्मादी अर्थ चिन्तन को 'धन का विज्ञान' के नाम से लोक व्यापीकरण किया। ऐसा लाभोन्मादी अर्थ चिन्तन समाज-रचना और व्यवस्था का आधार बिन्दु नहीं बना अपितु संघर्ष का आधार बना। संघर्ष विधि से संपूर्ण वस्तुओं का अपव्यय होना भावी हो गया। इसी कारणवश मानव शुभ चाहते हुए अशुभ के लिए प्रवर्तनशील होने विवश रहा। और संघर्ष को अपना लिया।

भ्रमित रहने की विवशता फलस्वरूप लाभोन्मादी, भोगान्मादी और कामोन्मादी प्रवृत्तियों में ग्रसित होना पाया जाता है। इन्हीं उन्मादों की ओर प्रवर्तित करने की क्रियाकलापों को विद्वता, कलाकारी, किंवा नेतृत्व भी मान लिया गया है। अस्तु, व्यक्ति में अंतर्विरोध, उसका स्रोत सुस्पष्ट होने के उपरान्त परिवार में अंतर्विरोध, मतभेद और द्वेष के रूप में; समुदायों की परस्परता में मतभेद विवाद और संघर्ष में ग्रसित रहना हम देख चुके हैं, सर्वविदित है। इसीलिए उपयोगिता, सदुपयोगिता, प्रयोजनशील विधियों का अध्ययन आवश्यक और अनिवार्य बन चुकी है। अ.श. (194-195)

यह भी देखा गया है कि जहाँ तक अर्थ पक्ष है ज्यादा कम के रूप में ज्यादा से ज्यादा व्यक्तियों के परस्परता मे संवाद, विचार, स्वीकृतियाँ है। इस पर सर्वेक्षण निरीक्षण, अध्ययनपूर्वक यह तथ्य पाया गया कि यह संवाद केवल प्यास को बढ़ाने के अर्थ में ही हुआ। गणितीय भाषा मे 2 है तो 4 चाहिए, 4 है तो 4000 चाहिये 4 अरब चाहिए यही प्यास है। प्यास सन्तुष्टि का अर्थ नहीं होती। अपने को कम होना पाते है उनके मन में यह भ्रम होता है कि ज्यादा धन जिसके पास है वह सुखी है जबकि वे ऐसे रहते नहीं है। उनका प्यास पीछे वाले से बहुत ज्यादा ही रहता है।

जितना ज्यादा धन रहता है उतना ही ज्यादा (अनेक गुणा का) प्यास बनता है ऐसा प्यास त्रासदी है। इसको हर व्यक्ति निरीक्षण, परीक्षण, सर्वेक्षण कर सकता है चाहे गाँव हो, परिवार हो, बंधु हो, बांधव हो, पहचान का हो, पहचान का न हो। सब जगह यही पाते हैं।

समुदाय की परस्परता से और देश-देश की, राज्य-राज्य की, परस्परता में भी यही, प्यास का झंझट बना रहता है। जनप्रतिनिधि और जन सम्मानित व्यक्तियों में भी यह प्यास पायी जाती है। सभी संस्था और व्यक्ति लाभोन्माद से मुक्त नहीं है। लाभोन्माद का मतलब ही है, और चाहिये, और चाहिये और चाहिये। इसी का नाम प्यास है। धन की प्यास से पीड़ित

आदमी सन्तुष्ट होना, सुखी होना समाधानित होना संभव है ही नहीं। इस प्रकार धन पिपासा हर व्यक्ति को त्रस्त किया ही है। इसी आधार पर हर संस्था भी इसी चक्र में फँसी हुई दिखाई पड़ती है। इन घटनाओं से हमें समझ में यह आता है कहीं न कहीं इसका तृप्ति बिन्दु तो चाहिए।

धन पिपासा दो ही बिन्दु, सुविधा और संग्रह के अर्थ में देखने को मिलती है। इस क्रम में संस्थाएँ कहलाने वाले चाहे राज्य संस्था हो, धर्म संस्था हो, अथवा समाज सेवी संस्था हो, इन संस्थाओ में धन की संतुष्टि होती ही नहीं। सुदूर विगत से यह प्रक्रिया संपन्न होते आयी। ज.व. (61-62)

परिवार में श्रम नियोजन, परिवार में समृद्धि

ज्ञान, विज्ञान दर्शन और तर्क संगत विधि से सम्पन्न होना और मानवीयतापूर्ण आचरण में दृढ़ रहना ही स्वायत्त मानव का स्थिति रूप है। ऐसे प्रत्येक मानव ही परिवार मानव के रूप में परिवार की परिभाषा को चरितार्थ रूप दे पाता है। मानव परिवार की परिभाषा और व्याख्या इस प्रकार होना देखा गया है कि कम से कम 10 व्यक्ति परस्परता में सम्बन्धों को पहचानते हैं, स्थापित और शिष्ट मूल्यों को निर्वाह करते हैं, मूल्यांकन करते हैं और उभयतृप्ति पाते हैं। इसी के साथ परिवारगत उत्पादन कार्य में एक दूसरे के पूरक हो पाते हैं। फलत: परिवार की आवश्यकता से अधिक उत्पादन कर लेते हैं।

इस प्रकार समाधान और समृद्धि का स्रोत परिवार से प्रचलित होना संभव हो जाता है।

प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व ही समाधान है। यह मानव में होने वाली है, न कि सुविधा संग्रह में, न ही यंत्रो में:- बहुत ज्यादा आहार और अलंकार संबधी (अन्न, सोना, चाँदी) द्रव्यों को इकट्ठा कर लेने मात्र से ही ये वस्तुएँ समाधान का आधार बन गई हों ऐसा कुछ नहीं हुआ। सार रूप में, वस्तुओं का संग्रह समाधान का मार्ग नहीं रहा। समाधान का आधार केवल मानव जागृति सहज वैभव ही है। **मानव में समाधान अस्तित्व सहज सह-अस्तित्व में अनुभव व प्रमाण हैं** - मानव सह-अस्तित्व में इन अंतर्सम्बन्धों को जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने के रूप में समाधानित होता हैं। अंतरसंबंध पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था में तथा इनके आपस में पाए जाते है। अ.श. (150-151)

सारांश

- **संग्रह का तृप्ति बिन्दु किसी भी देश काल में किसी एक व्यक्ति को भी नहीं मिल पाया।**
- **समृद्धि सामान्य आकांक्षा और महत्वाकांक्षा संबंधी वस्तुओं के आधार पर हो पाता है न कि प्रतीक मुद्रा के आधार पर।**
- **आवर्तनशील व्यवस्था में मानव सहज अपेक्षा रूपी समृद्धि सभी परिवारों के लिए समाधान सहित सुलभ हो जाता है।**
- **अर्थशास्त्र विधा में आवर्तनशीलता स्वयं में श्रम नियोजन और श्रम विनिमय प्रणाली, पद्धति, नीति है।**
- **समृद्धि का भाव परिवार में ही होता है। एक परिवार समृद्ध होने के लिए एक से अधिक परिवार का समृद्ध रहना अनिवार्य है। इस क्रम में अकेले में समृद्ध होने की कल्पना और संग्रह विधि से समृद्धि की कल्पना दोनों भ्रम सिद्ध हुआ।**
- **अभाव का अभाव ही समृद्धि है।** अ.श. (91)

4.3 प्राकृतिक संतुलन

प्रकृति में संगीत है, संतुलन है, भ्रमित मानव ही समस्या पैदा करता है

सम्पूर्ण अस्तित्व ही पूरक विधि में सह-अस्तित्वशील होना स्वयं में आवर्तनशीलता का आधार है। मानव के हर क्रियाकलाप प्रधानत: दो विधा में पूरकता क्रम में स्वयं में आवर्तनशीलता को प्रमाणित करता है। जिसमें से पहली विधा नैसर्गिकता और धरती के साथ प्राकृतिक नियमों को जानना-मानना-पहचानना-निर्वाह करना परमावश्यक तत्व है। प्राकृतिक नियम अपने आप में पदार्थ-प्राण-जीव-ज्ञानावस्था एक दूसरे के लिए पूरक होने के स्वरूप में देखने को मिलता है।

पदार्थावस्था, प्राणावस्था के लिए पूरक होना सर्वविदित तथ्य है। धरती पर ही सभी अन्न-वनस्पति-वन सम्पदा का होना देखा है।

यही प्राणावस्था की वस्तुएं हैं और ये सभी निष्प्राणित होने के उपरांत इसी धरती में समाता हुआ हर मानव देखता है। इसके साथ-साथ और तथ्य भी जुड़े हुए होते हैं। यह धरती अपने-आप में अथक प्रयास और प्रक्रिया सहित ऋतु संतुलन व्यवस्था को प्राप्त किया। तभी इस धरती पर वर्षा, ठंडी, गर्मी की निश्चित दिनों का, मासों का गणना मानव में प्रचलित रूप में ज्ञातव्य है (समझ में आता है)। ऋतु संतुलन की महिमा ही है इस धरती में सम्पूर्ण अन्न, वनस्पतियाँ स्वयं स्फूर्त विधि से अलंकृत, सुशोभित हुआ करते हैं। जैसे शिशिर ऋतु में पत्ते पक जाना, वसंत ऋतु में पल्लवित होना, कुसुमित होना, वर्षा ऋतु में अपने में परिपुष्ट होना देखा जाता है। इस विधि से वन सम्पदाएँ समृद्ध होता हुआ देखने को मिलता है। अ.श. (115-116)

इस ढंग से अस्तित्व सहज वैभव पदार्थ, प्राण, जीवों के रूप में दिखाई पड़ रहा है। ये सब मानव की किसी योजना के बिना ही धरती पर संपन्न हो चुका है। अध्ययन का मूल बिंदु है - यथास्थिति से, सम्पूर्ण पद्धति के साथ मानव के साथ तालमेल, संबंध और कर्त्तव्यों को पहचानना। अध्ययन जब कभी मानव कर पाता है, यथार्थ विधि से ही, मानव सहज जागृति को अध्ययन कर पाता है। अभी मुख्य मद्दा यह है कि जो कुछ भी अस्तित्व है वह अंतर्विरोध बाह्य विरोधों से प्रताड़ित रहता हैं या अंत:संगीत बाह्य संगीत संपन्न है। इन्हीं तथ्यों पर ध्यान देना विवेक और विज्ञान सम्मत विधि से परीक्षण करना और तथ्यों को स्वीकार करना - यही अध्ययन का सार रूप है। भ. व. (109-111)

यह तो मानव को भले प्रकार से पता लग चुकी है या स्पष्ट हो चुकी है कि मानव ही भ्रमित होकर धरती, जलवायु के प्रति अत्याचार करता है। इसका प्रमाण में यह देखने को मिला है कि पर्यावरण संतुलन के लिए उद्गार आवाज योजनाओं के रूप में भी कुछ नौकरी करने वाले आदमी या नौकरी नहीं करने वाले मनीषी विशेषकर योजना के स्थल पर चर्चा करते हैं। उन सभी चर्चा का सार तत्व प्रदूषण को रोकने की न होकर कितना ज्यादा प्रदूषण में आदमी जी सकता है, इसका खोज किया जा रहा है। ऐसी नौकरशाही प्रदूषण नियंत्रण कार्य के मूल में भी व्यापार और शोषण ही निहित है। इस विधि से गम्य स्थली अनिश्चित है। अतएव ऊर्जा स्रोतों में से जो सर्वाधिक प्रदूषण कार्य है, उसका शोषण और उपयोग विधियों से मुक्ति पाना आवश्यक है। इसके लिए विकल्पात्मक ऊर्जा स्रोतों से ही सम्पन्न होना आवश्यक है। इस मुद्दे पर आगे सुस्पष्ट विधि से देख पाएंगे। अ.श. (156-157)

ऊर्जा संतुलन

अभी तक ऊर्जा सम्पादन कार्य को धरती के पेट में समायी हुई खनिज तेल और खनिज कोयला, विकरणीय धातुओं को ऊर्जा का सर्वाधिक स्रोत का लक्ष्य बनाया। धरती अपने में संतुलित रहने के लिए कोयला और खनिज तेल (जिससे पेट्रोल, डीजल, इत्यादि प्राप्त किया जाता है।) धरती के पेट (भीतर) में ही समाया रहना आवश्यक रहा। इसका गवाही यही है कि यह धरती पर मानव अवतरित होने के पहले तक, यही धरती इन दोनों वस्तुओं को अपने पेट में समा ली थी। इसे पहले विज्ञानी भी पहचान सकते थे। ऐसा घटित नहीं हुआ। यही मूलत: वैज्ञानिक उपलब्धियों के साथ-साथ धरती के साथ भी

दुर्घटना को घटित करने का प्रयास भले ही अज्ञानवश हुआ हो यह घटना की विकरालता थोड़ा सा भी जागृत हुए मानव को दिखाई पड़ती है।

धरती अपने में सम्पूर्ण प्रकार की भौतिक, रासायनिक सम्पदा से परिपूर्ण होने के उपरांत ही इस धरती पर जीव संसार और मानव संसार बसी।

जीव संसार तक ही सभी क्रम अपने में पूरक विधि से संतुलित रहना पाया जाता है। मानव ही एक ऐसा वस्तु है, अपने कल्पनाशीलता, कर्म स्वतंत्रतावश भ्रमित होने के कारण ही धरती में अपना वैभव को प्रकाशित करने का जो स्वरूप रहा है उसे हस्तक्षेप करने का सभी प्रयास मानव के लिए एक हाफा-दाफी का कारण बन चुकी है। पर्यावरण में प्रदूषण अपने चरमोत्कर्ष स्थिति में पहुँचने के उपरांत सभी देश यही सोचते हैं प्रदूषण का विपदा अथवा प्रदूषण से उत्पन्न विपदाएं अपने-अपने देश में प्रभावित न हो, जबकि प्रदूषण का प्रभाव इस धरती के सभी ओर फैली ही रहती है।

इसका साक्ष्य है इस धरती के ऊपरी भाग में बनी हुई रक्षा कवच(ओज़ोन लेयर)। अर्थात् इस धरती की ओर आने वाली सूर्य ताप को यह धरती स्वयं पचाने योग्य परावर्तन विधि और प्रणालीबद्ध करता रहा है। वह धरती के सभी ओर से विलय होता हुआ आधुनिक उपकरणों से भी देखा गया है। जिसको विज्ञान की भाषा में ओजोन का नाम बताया करते हैं।

यह भी वैज्ञानिक मापदण्डों से पता लग चुका है कि यह धरती का ताप किसी न किसी अंश में बढ़ना शुरू कर दिया है। इसका गवाही के रूप में समुद्र का जल किसी मात्रा में बढ़ता हुआ पहचाना गया है। इसी के साथ यह भी पहचाना गया है कि धरती में ताप बढ़ने पर ध्रुव प्रदेशों में जमा हुआ बर्फ पिघल सकता है। यदि पिघल जाए तब धरती अपने में जितना विशाल क्षेत्र को पानी से रिक्त बनाए रखा है, उनमें से सर्वधिक भाग जल मग्न होने की संभावना पर ध्यानाकर्षण कराया जा चुका है।

यहाँ उल्लेखनीय घटना यही है। विज्ञानी ही खनिज तेल और कोयला को निकालने के लिए यांत्रिक प्रोत्साहन किए और उसी से प्रदूषण सर्वाधिक रूप में होना स्वीकारे। इसके पश्चात भी उन खनिज तेल और कोयले की ओर से अपना ध्यान नहीं हटा पा रहे हैं। यहाँ पर प्रदूषण और ताप संबंधी दो तलवार मानव जाति पर लटकी ही हुई है।

इसका निराकरण हेतु निम्न विकल्पों को तत्काल अपनाना ही होगा:-

- सौर ऊर्जा

- प्रताप ऊर्जा(जल विद्युत) – जल प्रवाह बल

- दृष्ट तरंग – पवन ऊर्जा

- गोबर गैस, कचड़ा गैस, तेलीय वनस्पतियाँ | अ.श. (63-65)

संकरीकरण और कृत्रिमता से समस्या

इस शताब्दी में, सकंरीकरण प्रक्रिया (हायब्रिड, जनेटिक माडिफिकेशन) पर प्रयोग किया, जिसमें फल, फूल, पशु शामिल है। इससे यही देखा गया कि आकर में तो मोटाई आ गया, परंतु उस वस्तु में निहित गुणवत्ता कम हो गई बीज परंपरा खत्म हो गई, और यह नए प्रजाति रोग ग्रस्त हो गए। इस पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। इसी के चलते कृत्रिम खाद (रासायनिक खाद) मानव के लिए और धरती के लिए घातक सिद्ध है, यह स्पष्ट हो गया है।

जितना मानव कृत्रिम होता गया उतना ही प्रकृति के साथ अपराध करते गया अथवा झुकता, छुपता गया या भयभीत होते गया।

उसी प्रकार मानव के साथ द्रोह-विद्रोहात्मक षंडयत्र रचता आया, फलस्वरुप मानव का दुखी होना पाया गया। ऐसा दुख शीरीरिक, मानसिक विचित्र रोगों के रूप में अथवा विसंगतियों के रूप में देखने को मिला। इससे मानव सहज ही छूटना

चाहता है। इसके लिए सहज उपाय है - "मानव अपने को अस्तित्व में अविभाज्य रूप में हैं" ऐसा जाने, माने, पहचाने और निर्वाह करें। यह एक ही विधि है। भ.व. (290-292)

मानव जागृति विधि से ही धरती संतुलित रहना

मानव परंपरा जब से जागृत परंपरा के रूप में प्रामाणिक हो जावेगी, उसी मुहूर्त से नैसर्गिक और वातावरण संतुलन के लिए जागृति होना स्वाभाविक हैं। जैसे ईंधन (ऊर्जा) स्रोतों को उपयोग करने के क्रम में और इनके उपयोग के तादाद तरीके के आधार पर ही पर्यावरण संबंधी समस्या ग्रस्त होना अथवा समाधानित होना पाया जाता हैं। इस मुद्दे पर संतुलन का आधार ऊर्जा स्रोत के रूप में खनिज, कोयला और तेल को पहचाना गया। वह प्रदूषण के लिए सर्वाधिक कारक तत्व सिद्ध हुआ।

इससे यह ज्ञानार्जन होता है या मानव की समझ में आता है कि अन्य प्रकार के ऊर्जा स्रोतों से आवश्यक कार्य करना चाहिए।

ऐसी ऊर्जा स्रोत सूर्य ऊर्जा और प्रवाह शक्ति के रूप में बड़ी तादाद में दिखाई पड़ती हैं। इन दो स्रोतों को सर्वाधिक उपयोग करने की विधि को, तरीके को तत्काल खोज लेना चाहिए। इन दो स्रोतों में से प्रवाह शक्ति को, विद्युत चुम्बकीय शक्ति में परिवर्तित करना शीघ्र आरंभ करना चाहिए। फलत: खनिज तेल और कोयले को उपयोग करने की आवश्यकता न हो। इसी के साथ और ऊर्जा स्रोत जैसे - गोबर गैस, कचरा गैस के रूप में जो पहचाना गया, उसकी वृद्धि किया जाना चाहिए। जिससे ईंधन और मार्ग प्रकाश दोनों पूरा हो सके। इसी बीच में सौर ऊर्जा को उपयोग करने के उपकरणों का निर्माण और उसकी सुलभ उपलब्धियों के संबंध में सम्पूर्ण जन मानस को जागृत करना आवश्यक है।

इसी रूप में रासायनिक खाद का प्रयोग प्राकृतिक फल, फूल, पशुओं के प्रजाति के साथ खिलवाड़ सर्वथा बंद करना आवश्यक है। मानव इस धरती पर स्वस्थ रहने, चारों अवस्था संतुलित रहने के लिया यह अनिवार्य है। (अधिक जानकारी के लिया समाधानात्मनक भौतिकवाद पृ 327-340 देखें।)

जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान, अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था और सह-अस्तित्व सहज गति के द्वारा सहज रूप में ही, धरती में जो कुछ भी क्षति हुई हैं, वह पुनश्च अपने में भर जाने की एक व्यवस्था सह-अस्तित्व में रखी गई है। विश्व जन मानस में मानव परंपरा से हुई भूल सुधारने के लिए आवश्यकीय वास्तविक विचारों की एक आवश्यकता बनी ही रही। यह मध्यस्थ दर्शन, सह-अस्तित्ववाद, आवर्तनशील अर्थव्यवस्था, व्यवहारवादी समाजशास्त्र और मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान के आधार पर मानव सुधार के लिए मानसिकता तैयार कर सकता है। यह मानव के लिए अर्पित हो चुका है।

यह दर्शन अपने आप में संपूर्ण आयाम, कोण, दिशा, परिप्रेक्ष्य में नैसर्गिकता, वातावरण, सम्बन्ध, संपर्क, स्थिति-गति में, मानव के भ्रमवश पैदा की हुई सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान है। इसलिए यह "समाधानात्मक भौतिकवाद" रासायनिक-भौतिक संतुलन, पूरकता सम्बन्धी तथ्यों पर सहज ही समाधान प्रस्तुत करता है। भ.व. (329-338)

जागृति मानव का गम्य स्थली है, तब तक मानव जागृति क्रम में ही गण्य हो जाता है। जागृति क्रम में निश्चयन श्रृंखला, जागृति श्रृंखला की प्यास ही रह पाता है, परिणामस्वरूप गम्य स्थली के लिए बाध्यता निर्मित होता ही है। सह-अस्तित्व सहज विधि से मानव के सम्मुख विविध मानव मानस और नैसर्गिक अनमेल की पीड़ा से पीड़ित हो चुकी है और नैसर्गिक परिस्थितियाँ मानव को जागृत होने के लिए, चेतने के लिए, परिवर्तित होने के लिए समझने के लिए अनुकूल परिस्थितियों को निर्मित किये जा रहा है। जबकि नैसर्गिकता और मानव प्राकृतिक स्रोत मानव की अभिलाषा के बीच विसंगतियाँ है। यही विसंगतियाँ उक्त प्रकार के सभी अंतरणों के लिए अनुकूल परिस्थिति बन चुकी हैं।

पुनःश्च हवा, पानी, धरती के रखरखाव वश इन सब में विसंगतियाँ सोचने समझने जागृत होने के लिए निर्देशित कर रहा है।

यह भी इसी के साथ निश्चित होता है कि मानव इस धरती पर जागृति पूर्वक ही जी सकता है अन्यथा सह-अस्तित्व सहज नैसर्गिकता अपने आप मानव प्रजाति को स्वर ताल भंगिमा में प्रस्तुत होना आरंभ कर दिया है। अतएव मानव प्रजाति को

जागृति पूर्वक जीने की विधि, कला, उपक्रम, उपाय, शोध कार्यों को अपनाना ही होगा। इसी क्रम में अभ्युदय सहज सार्थकता को बोध कराने के उद्देश्य से ही यह श्रुति रूपी वांड्गमय मानव के लिए प्रस्तुत है। म.वि. (194-195)

खण्ड 3: सारांश

अध्याय 1 - सारांश

अस्तित्व कैसा है? कितना है? क्या है?

अस्तित्व में अनन्त ग्रह-गोल व्यापक वस्तु में समायी हुई है - जिनका दृष्टा केवल मानव ही है। भले ही कैसे हैं, कितने है, क्या है ? इन तथ्यों का स्पष्टीकरण न हो। इसी प्रकार धरती में चारों अवस्थाओं के यथा पदार्थ, प्राण, जीव व ज्ञानावस्था सहज वस्तुओं का दृष्टा भी मानव ही है। प्रकारान्तर से इन सभी चीजों को हर मानव देखता ही है। साथ-साथ हर कार्यशील वस्तुओं को व्यापक में समायी हुई देखना समझना समीचीन है। जितने भी अचल वस्तुएँ हैं वे सब धरती के साथ ही गतिशील रहना देखने को मिलता है। धरती स्वयं व्यापक में समायी हुई होना कल्पना में आता है, अध्ययन से स्पष्ट होता है।

कल्पनाएँ जीवन सहज कार्य महिमा है। कल्पना में सम्पूर्ण अस्तित्व समाने की क्रिया स्पष्ट हुई। कल्पना का तात्पर्य अस्पष्ट आशा, विचार, इच्छा का ही गतिशीलता है। इस प्रकार मानव की कल्पना से स्पष्टीकरण की ओर ही जागृति चिन्हित हो पाता है।

अस्तित्व कैसा है इस तथ्य को (समाधानात्मक भौतिकवाद पुस्तक में) 'अस्तित्व एवं अस्तित्व में परमाणु का विकास' में स्पष्ट किया जा चुका है। कितना है का उत्तर हर मानव के जागृति सहज विधि से उदय होता ही रहता है। सम्पूर्ण अस्तित्व मानव की आवश्यकता के अर्थ में समाहित नहीं होता। दूसरी भाषा में सम्पूर्ण अस्तित्व मानव सहज भाषा की सीमा में समाता नहीं है। इससे यह भी पता लगता है सम्पूर्ण अस्तित्व मानव की आवश्यकता से अधिक है ही। अस्तित्व में ही व्यापक और अनन्त इकाईयाँ अविभाज्य रूप में होना दिखाई पड़ता है समझ में आता है।

इसे देख पाना मानव जागृति क्रम सहज समीचीनता है। इस प्रकार कितना है का स्पष्टीकरण समझ में आता है।

क्यों है का उत्तर इस प्रकार स्पष्ट है कि सम्पूर्ण घटना स्वरूप ही सह-अस्तित्व में होना स्पष्ट होती है। व्यापक वस्तु में ही अनन्त वस्तुओं की अविभाज्यता अनुस्यूत है। ऐसे सदा-सदा वर्तमान रूपी अस्तित्व क्यों वाला प्रश्न को भी मानव ही प्रस्तुत करता है। मानव भी अस्तित्व में अविभाज्य इकाई है। वर्तमान में जो कुछ भी देखने-समझने को मिल रहा है इसको वर्तमान में प्रकाशित करना ही अस्तित्व सहज सार्थकता स्पष्ट होती है। **अस्तित्व में जो कुछ भी है इसकी निरंतरता ही इसका प्रयोजन है**। इस प्रकार तीनो प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट हो जाता है। अ.व. (148-149)

यह निश्चित बात है कि निश्चयता में ही मानव जीना चाहता है। अनिश्चयता मानव को स्वीकृत नहीं है। भ्रम की स्थिति में भी निश्चयता की अपेक्षा मानव में निहित रहती ही है। निश्चयपूर्वक ही मानव धरती पर चल पाता है। हवा पर चलता है और पानी पर चलता है (यान वाहन द्वारा)। इसी प्रकार अन्य गतियों मे भी निश्चयता की अपेक्षा बनी हुई है। धरती पर चलने के पहले से ही धरती की स्थिरता धरती पर निहित मानव को ज्ञात रहती है। इस प्रकार,निश्चय के आधार पर निश्चित्ता के अपेक्षा में स्थिरता के अपेक्षा में ही मानव जीता है।

स्थिरता क्रिया की निरन्तरता के रूप में पहचानी जाती है, निरन्तरता ही स्थिरता है।

हर क्रिया अपने में निरन्तर है ही, उसके साथ यह भी समझने की आवश्यकता है कि हर एक एक (वस्तु) अपने यथा स्थिति के अनुसार स्थिर है। इसका प्रमाण (वस्तु का) निश्चित आचरण है। व्यापक वस्तु भी स्थिर रूप में ही व्याख्यायित होती है। अस्तित्व प्रकटनशील है। सहअस्तित्व नित्य प्रभावी है। अस्तित्व स्थिर है, (मानव का) जागृति निश्चित है। ज.व. (96-109)

मानव ही जीवन मूलक व्यवस्था है

ज्ञानावस्था में पाये जाने वाले मानव अपने में मौलिक अभिव्यक्ति होना सर्वस्वीकृत है। इस मौलिकता के मूल में शरीर रचना के आधार पर पहचानने के लिए कोशिश किया वह नस्ल के ढांचे-खाँचे में पहचानने में आता रहा। इसी के साथ अर्थात् शरीर रचना के साथ रंग में भी विभिन्नता होना देखा गया। इन्हीं मुद्दे पर सर्वाधिक समय मानव अपने को मनमानी सोच में लगाया। इसी क्रम में मानव, मानव के साथ जैसा भी पाशविकताएँ बरती गई हैं वह सर्वविदित है ही। यह आरंभिक काल में ही अर्थात् इस धरती पर मानव के अवतरण होने के थोड़े ही समय के उपरांत घटित-घटनाओं के आधार पर समझा जाता है।

इसके पश्चात भी बहु कारणों से समुदायों को अलग-अलग श्रेष्ठ-नेष्ठ बताने के लिए प्रयास किया गया, वांङग्मय बनाये गये और उनके आधार पर आचार-संहिता बताई गई। **अभी तक यही निष्कर्ष निकला है कि सार्वभौम रूप में मानव को पहचानने का विधि स्थापित नहीं हुआ।** जबकि सुदूर विगत से ही यह प्रयास जारी रहा है।

जैसा-जैसा मानव अधिकाधिक आयामों में अपने को सार्थक बनाने जाता रहा उनके सम्मुख उतना ही अधिक जटिलताएँ आता रहा। इन सभी कुण्ठा, प्रताड़नाओं को झेलता हुआ मानव लुके-छिपे विधियों से अपने में अच्छाइयों को पालने का भी बहुत सारा प्रयत्न करता रहा। ये सब करने के उपरांत भी अच्छाइयों का तृप्ति बिन्दु कहीं मिल नहीं पाया। इन्हीं सब विरोधाभासी घटनाक्रम में मानव अपने को पहचानने की अभीप्सा को बरकरार रखा। यही मुख्य रूप में परंपरा का देन है। इन्हीं में उतरता-चढ़ता रहा विभिन्न समुदायगत मानव दृष्टव्य है

प्रधान उलझन यही है मानव शरीर मूलक व्यवस्था है या जीवन मूलक व्यवस्था है ? यदि जीवन मूलक व्यवस्था है, ऐसी स्थिति में जीवन क्या है ? कैसा है ? क्यों है ? इन्हीं प्रश्नों से बोझिल होता है।

इसका उत्तर भौतिकवादी, अधिभौतिकवादी व अध्यात्मवादी विधि से व अधिदैवीवादी विधियों से अध्ययन प्रक्रिया सहित कोई तथ्य कल्पना प्रस्तुत नहीं कर पाया। विचार तो काफी दूर रहा। इसका उत्तर "अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिन्तन" से प्राप्त किया जाना सहज सुलभ है। यह रहस्यों और अनिश्चयताओं से मुक्त विधि है, और क्रम पूर्वक हृदयंगम होता है। इसी बिन्दु पर सुस्पष्टता के लिये विभिन्न स्थलियों में आवश्यतानुसार अवगाहन योग्य तथ्यों को प्रस्तुत किया। हम इन तथ्यों के प्रति स्पष्ट हो चुके हैं कि वस्तुओं (रासायनिक-भौतिक) के आधार पर (रासायनिक-भौतिक) मानवाकांक्षा सम्मत व्यवस्था नहीं हो पाती है। यह जीवन जागृति मूलक विधि से ही सम्पन्न होना देखा गया है।

जीवन में ही तुलन कार्यकलाप सहज रूप में ही सम्पन्न होने के कारण भौतिक-रासायनिक वस्तु संसार में प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभ तुलन के कसौटी पर देखा जा सकता है, देखा गया है।

न्याय, धर्म, सत्य को मानव चेतना पूर्वक सर्वतोमुखी समाधान (धर्म) सह-अस्तित्व सहज परम सत्य दृष्टियों के आधार पर अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था को परंपरा के रूप में पाना सहज समीचीन है। न्याय, धर्म, सत्य को स्वीकारने वाला, व्यंजित होने वाला, प्रमाणित होने वाला और प्रमाणों को प्रस्तुत करने वाला मानव जीवन ही है। इस तथ्य को भले प्रकार से देखा गया है। प्रिय, हित, लाभानुवर्ती कार्यकलापों में व्यस्त रहते हुए भी न्याय, धर्म, सत्य की स्वीकृति, अपेक्षा, कल्पना करता हुआ मानव को देखा जाता है यही इस बात का द्योतक है।

इन्द्रिय सन्निकर्ष में प्रिय-हित व्यंजनाएँ होते हुए लाभ की कल्पना (कल्पना = अस्पष्ट आशा, विचार, इच्छा का क्रियाकलाप) लाभ की स्वीकृति को मानव में होना पाया जाता है।

इसका अंतिम सर्वेक्षण हानि का अस्वीकृति, लाभ की स्वीकृति। उल्लेखनीय तथ्य यही है अस्तित्व में लाभ-हानि का कोई विधि नहीं है। इसलिए कहीं लाभ होता है तो कहीं हानि हो ही जाता है। इसलिए आज तक लाभोन्मुखी व्यापार विधि से कोई संतुष्टि बिंदु अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। जबकि मानव हर विधाओं में संतुष्ट होना चाहता है। इसीलिए चाहना होना का विरोधी है। सम्पूर्ण क्लेश भ्रमवश ही हो पाता है। जीवन ही भ्रमवश शरीर को जीवन समझने का फलन है। जीवन-जीवन को समझने के उपरान्त भ्रम जाल कष्टों से मुक्त होने के लिए उपायों को सोचना स्वाभाविक है। इसी क्रम में यह अध्ययन के लिए प्रस्तुत किया गया है।

अस्तित्व न घटता है, न बढ़ता है, इसलिए लाभ-हानि से मुक्त है, इसलिये नाश से मुक्त है। इस प्रकार अस्तित्व नित्य वर्तमान रूप में अपने यथास्थिति में बने रहने के वैभव स्पष्ट है।

पूरकता सहज विधि से अनुप्राणित होना रहना ही व्यवस्था सूत्र का आधार है। यह संवेदनशीलता, संज्ञानशीलता का संतुलन रूप में कार्यरत होना देखा गया है। जानने-मानने के रूप में संज्ञानशीलता को और पहचानने-निर्वाह करने के रूप में संवेदनशीलता को हर मानव अपने में और सम्पूर्ण मानव में पहचान सकता है। शरीर तंत्र में प्रधानत: मेधस तंत्र (ब्रेन) ही सर्वोपरि सूक्ष्म तंत्र के रूप में देखने को मिलता है। मेधस तंत्र रचना सर्वाधिक पुष्टि तत्व से बना हुआ दिखाई पड़ता है। यह जीवन विचारों के साथ-साथ तंत्रित होना स्पष्ट होता है क्योंकि जीवन्त शरीर में ही मेधस तंत्र ही इसके क्रियाकलापों को करता हुआ देखने को मिलता है। इस रचना में कहीं भी ऐसी स्थली नहीं है जिसमें न्याय, धर्म, सत्य को बनाए रखे।

इसी प्रकार हृदयतंत्र, फुप्फुसतंत्र, आंत्र तंत्र, प्लीहा तंत्र, वृक्कतंत्र, मलाशय, गर्भाशय तंत्रों में इसे बनाये रखने का कोई स्थली नहीं है। और भी देखा गया पाँचों कर्मेन्द्रियों-ज्ञानेन्द्रियों में भी न्याय, धर्म, सत्य को पहचानने की स्थली कुछ भी नहीं है।

इन तथ्यों से यह विदित हो जाता है कि जीवन शक्तियों से तंत्रित मेधस तंत्र द्वारा ज्ञानेन्द्रियों का कार्यकलाप सम्पन्न होता हुआ स्पष्टतया देखा गया है। अतएव जीवन ही न्याय, धर्म, सत्य को जानता है, मानता है, पहचानता है, निर्वाह करता है। फलस्वरूप जीवनाकांक्षा रूपी सुख, शांति, संतोष, आनंद भोगता है। भ्रमवश ही शरीर को जीवन मानते हुए प्रिय, हित, लाभात्मक प्रवृत्तियों में ग्रसित होते हुए स्वयं दुखी होता है, अन्य को दुखी बनाता है। नैसर्गिकता को भी अव्यवस्था में परिणित कर देता है। इस प्रकार से मानव अभी तक भ्रमित कार्यों को पूरा करने वाला है या कर चुका है। अब शेष जागृत कार्यों विचारों सहित सार्वभौम व्यवस्था, अखण्ड समाज सूत्रों में सूत्रित होना ही है। यही मानव का सुखद, सुंदर, समाधानपूर्ण कार्य है। अ.व. (261-271)

समाधान = सुख। समाधानित होना ही लक्ष्य है

इस प्रकार सह-अस्तित्व सहज विधि से मानव व्यवस्था को पहचानने का मार्ग प्रशस्त होता हैं। इसका सूत्र यही है। प्रत्येक एक अपने "त्व" सहित व्यवस्था हैं और समग्र व्यवस्था में भागीदार हैं। इसलिए मानव भी मानवत्व सहित व्यवस्था है और उसकी समग्र व्यवस्था में भागीदारी सहज संभव हैं। इसीलिए व्यवस्था, मानवत्व सहज गति है, न कि शासन। व्यवस्था विधि से ही परस्परता में मूल्य और मूल्यांकन सार्थक होता हैं। व्यवस्था अस्तित्व सहज वर्तमान मे विश्वास हैं। अस्तित्व नित्य वर्तमान हैं। वर्तमान में विश्वास रहना, उसकी अक्षुण्णता (निरन्तरता) की आवश्यकता रहना, यही मानव में जागृति का प्रमाण हैं।

व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी ही गति है।

प्रत्येक मानव वर्तमान में विश्वस्त, भविष्य के प्रति आश्वस्त रहना ही चाहता हैं। इसमें अगर कोई बाधा निर्मित हुई है तो वह मानव के कारण ही हैं। यदि रहस्यता हुई है तो वह भी मानव सहज नैसर्गिकता है। सर्वप्रथम मानव के साथ विश्वास बनाए रखने; विश्वास पाने और उसकी निरंतरता पर भरोसा कर सकें, यही मुख्य स्थली हैं। इस पर विचार करने, विवेचना करने, योजनाबद्ध तरीके से प्रमाणित होने के लिए मानव ही अध्ययन के मूल में प्रस्तुत होता हैं। अध्ययन की मूल वस्तु मानव ही हैं। अध्ययन करने वाला मानव ही हैं और प्रयोजित होते समय मानव और नैसर्गिकता का मूल्यांकन होना एक आवश्यकता बन जाती है।

मानव जब कभी भी अपने में समाधान से तृप्त होता हैं, तब-तब नैसर्गिकता में समाधान यथा मानव धरती, जल, वायु, जगंल, जीव, पक्षी के साथ समाधान आता हैं। इनके साथ कितना समाधान सहज कार्य किया, यही स्व-समाधान की पुष्टि है।

सह-अस्तित्ववादी नजरिए से जब हम देखते हैं, तब हमें आंकलित होता है कि हम कितना समाधानित हैं। इस बात को अपने में मूल्यांकन करने योग्य होते हैं। जागृति पूर्वक ही मानव का वर्तमान में विश्वास और उसकी अक्षुण्णता के प्रति

आश्वस्त होना पाया जाता है। अन्यथा भ्रमवश आवश्यकता से सुविधा, सुविधा से भोग, भोग से अतिभोगवादी प्रलोभनों के चक्कर में संग्रह, सुविधा लिप्सावादी आधार पर तमाम अपराध कर डालता हैं। अभी तक का किया हुआ भी इसी तरीके से हुआ है। अभी तक मानव में भय और प्रलोभन यथावत् हैं। भय और प्रलोभन का यही क्रम बनता रहा है कि आवश्यकता से सुविधा, सुविधा से भोग, भोग से अतिभोग। इसी क्रम में जीने के तरीकों को अपनाया गया।

इसका स्रोत संग्रह को मान लिया गया। संग्रह के लिए एक मात्र स्रोत, यह धरती रही आई। फलस्वरुप जो मनमानी कर सकते थे, उससे नैसर्गिकता का असंतुलन, प्रदूषण के रूप में एवं विकराल जन संख्या के रूप में सामने आया। भ.व. (342-346)

विकल्प के रूप में सहअस्तित्व रूपी दर्शन ज्ञान, जीवन ज्ञान, (सहअस्तित्व वाद में जीवन ज्ञान) और मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान के आधार पर ही समझदारी, अर्थात समाधान और उसकी निरंतरता का होना पाया गया है। समझा गया है और जिया गया है। ज. व. (97-108)

मानव जागृति ही स्वीकारता है, भ्रम को नही

सह-अस्तित्व में अनुभव सहज समझदारी = समाधान। समाधान सहित ही समृद्धि का अनुभव होता हैं। समाधान मूलत: सह-अस्तित्व सहज समझदारी हैं। सह-अस्तित्व सहज वैभव है। अस्तित्व ही परम सत्य है। अस्तित्व सहज स्वरुप सत्ता में संपृक्त प्रकृति है। इस प्रकार अस्तित्व सहज समझदारी स्वयं समाधान है, यह त्रिकालाबाध (तीनों काल – भूत, भविष्य, वर्तमान) सत्य है। मानव ही समझदारी के साथ जीता है या जीना चाहता हैं या जीने के लिए बाध्य है क्योंकि समझदारी के बिना मानव का स्वयं को व्यक्त करना संभव नहीं है। हर मानव स्वयं को व्यक्त करना चाहता ही है। समस्या की पीड़ा से मानव पीड़ित होता हैं। इस ढंग से मानव समस्या को वरता नहीं हैं या वरना नहीं चाहता है।

इन आधारों पर समाधान ही मानव का शरण, वैभव व अपेक्षा है। समाधान अस्तित्व सहज हैं। अस्तित्व जैसा है, वैसे ही समझने की स्थिति में समाधान ही मानव को करतल गत होता हैं। भ. व. (346)

जागृति पूर्वक ही मानव मानवीय व्यवस्था को अपनाया करता है अन्यथा भ्रमित रहता है। भ्रमित रहने तक स्वयं अव्यवस्थित रहता है अन्य से व्यवस्था की अपेक्षा करता है। स्वयं समस्या को प्रसवित कर देता है अन्य से समाधान चाहता है यही भ्रम कहलाता है। भ्रमवश मानव परेशान होता है परेशानियों से मुक्त होने की अपेक्षा हर समस्याग्रस्त मानव में निहित है। इन्हीं आधारों पर जागृति अवश्यंभावी हो गई है। शुभ संकेत यही है मानव को जागृति स्वीकार होती है भ्रम स्वीकार नहीं होता है। जागृति के अनन्तर ही हम मानव सदा-सदा समाधान परम्परा के रूप में प्रमाणित हो पाते है। ऐसी शुभ घटना के लिए सूचना के रूप में मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्व वाद मानव कुल के लिए प्रस्तुत है। ज. व.(227 – 233)

कुछ प्रचलित मान्यताएँ, भ्रम

हर मानव समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व व उसकी निरंतरता विधि से जीना चाहता है। इसके लिये अनुभवमूलक शिक्षा-संस्कार विधि समीचीन है। इसके विपरीत **यह मानना कि मानव कभी सुधर नहीं सकता यह सर्वथा भ्रम है।** हर मानव संबंध, मूल्य, मूल्यांकन, उभयतृप्ति पूर्वक परिवार मानव होना चाहता है इसके नित्य सफलता के लिये मानवीयतापूर्ण शिक्षा-संस्कार समीचीन है। यह अनुभवमूलक विधि से प्रमाणित होना पाया जाता है। मानव सम्बन्धों में निरंतर मूल्यों का अनुभव कर सकता है।

इसे सफल बनाने का कार्य-विचार-व्यवहार विधि को अनदेखी करते हुए **यह मानना कि बैर विहीन परिवार नहीं हो सकता और बैर रहेगा ही, दुख रहेगा ही इन्हें सत्य कहकर अपने भ्रम को दूर-दूर तक फैलाना है।**

हर परिवार मानव समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व पूर्वक परिवार परंपरा को निर्वाह करने योग्य है, चाहते है और इसे एक-दूसरे के पूरक विधि से निर्वाह करते है, और कर सकते हैं। इसके लिए अनुभव मूलक प्रमाण, पद्धति, प्रणाली समीचीन है। इसे अनदेखी करते हुए **यह मानना कि मूलत: मानव पराधीन है, वह सामान्य आकांक्षा (आहार, आवास, अहंकार) सम्बन्धी वस्तुओं से ही सम्पन्न हो सकता है इसलिये इसमें विपन्नता बना ही रहेगा।** इनको सहायता की आवश्यकता है इसी मुद्दे पर नेतृत्व विधि से हर व्यक्ति की विपन्नता को **जताना, लादना, मनवाना भ्रम है ही।**

मानव जन्म से ही न्याय का याचक, सही कार्य-व्यवहार करने का इच्छुक और सत्य वक्ता होता है।

परंपरा सहज विधि से (शिक्षा-संस्कार, संविधान और व्यवस्थापूर्वक) हर व्यक्ति में न्याय प्रदायी क्षमता, सही कार्य व्यवहार करने की योग्यता सत्यबोध करने-कराने की परमावश्यकता है। यह अनुभवमूलक मानव परंपरा में ही सार्थक होता है। इसे अनदेखी करते हुए **हर व्यक्ति को जन्म से ही स्वार्थी, अज्ञानी और पापी इतना ही नहीं अपराधी, गलती करने वाला मानना, कहना, कहलाना, करने के लिये सम्मति देना भ्रम की पराकाष्ठा है।**

हर व्यक्ति परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था में भागीदारी करने के लिये इच्छुक है, उत्साहित है। इसी के साथ बैरविहीन, सामरस्यता पूर्ण 'परिवार मानव' के रूप में जीने देकर, जीना चाहता है।

यह मानव सहज स्वतंत्रता और स्वराज्य का उद्गार रूप में सर्वेक्षित है। इसे सफल बनाने के लिये अनुभवमूलक विधि से समीचीन है। इसके विपरीत शक्ति केन्द्रित शासन-संविधान जिसकी मानसिकता यथास्थिति की अपेक्षा **गलती और अपराध के लिये दण्ड विधान, पड़ोसी देश और धर्म को अपना विरोधी और शत्रु होना मानते हुए इसका प्रचार पूर्वक प्रतिबद्धताओं को अर्थात् गलत मान्यताओं को हर प्रकार से मनवाना, मानने के लिये मत देना, यह समूल भ्रम पाया गया**। हर मानव परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था में कार्यरत, व्यवहाररत, परिवार और समग्र व्यवस्था में भागीदारीरत होने योग्य है और जागृति पूर्ण विधि से प्रमाणित होने योग्य है। इसके लिये अनुभव मूलक परंपरा विधि आवश्यक एवं समीचीन है।

आवश्यकतानुसार अनुसंधान न करते हुए और इसके **विपरीत दासता अर्थात् ईश्वर के प्रति दासता और सामुदायिक-धर्म और सामुदायिक राज्य के प्रति दासता को स्वीकार करने के लिये परंपरागत विधि से कार्यक्रमों को प्रस्तुत करना अथ से इति तक भ्रम है।**

जागृति सहज प्रमाण यही है हर व्यक्ति में पाये जाने वाले कल्पनाशीलता के तृप्ति बिन्दु रूपी परिवार मूलक व्यवस्था में पारंगत बनना और बनाने के लिए सहमत होना और कर्म स्वतंत्रता का तृप्ति बिंदु रूपी स्वानुशासन सहज स्वतंत्रता प्रमाणों के रूप में प्रमाणित होता है। इसे करना, कराना ही एकमात्र उपाय है। यह इस दशक से समीचीन हो गया है। हर मानव चारों अवस्थाओं को उन-उनके स्वभाव गति प्रतिष्ठा को जानने-मानने और पहचानने-निर्वाह करने योग्य हैं। साथ ही रासायनिक-भौतिक रचना-विरचना को स्वीकारने और जीवन के अमरत्व को समझने, स्वीकारने योग्य और सत्य बोधपूर्ण होने योग्य और अनुभव मूलक विधि से प्रमाणित करने-कराने योग्य हैं।

इन्हें अनदेखी करते हुए **शरीर को ही जीवन समझते हुए, समझदार होने का दावा करते हुए इस पर लिये गये निर्णयों के अनुसार स्थापित किये गये परंपरा अथ से इति तक भ्रम है।**

इतना ही नहीं शरीर को ही जीवन समझाने के क्रम में ही मानव को जीव-जानवर सम्बोधित किया यह अत्यंत भ्रम, गलती है। जबकि जीवन और शरीर के सह-अस्तित्व में ही मानव परंपरा वैभवित है। मानव प्रकृति की प्रत्येक इकाई में अविभाज्य रूप, गुण, स्वभाव, धर्म रूपी मात्रा को जानने - मानने - पहचानने - निर्वाह करने योग्य इकाई है। यह जागृतिपूर्वक हर व्यक्ति में, से, के लिये समान है। इसके लिये मानव परंपरा जागृत रहना अनिवार्य है। परंपरा इससे वंचित, विमुख, अनदेखी करते हुए विखण्डन के आधार पर अथवा गति रत वस्तु का ध्रुव बिंदु न पहचानने के आधार पर मूलत: **वस्तु**

अस्थिर, अनिश्चित मान लेना और मना लेना आमूलत: भ्रम है और गलती है जबकि अस्तित्व स्थिर, अस्तित्व में विकास और जागृति निश्चित है।

इन्द्रिय सन्निकर्ष में ही 'अनुभव होता है' ऐसा मानना और मनवाना, इसको लोकव्यापीकरण करने का सभी उपाय तैयार करना, साथ ही **लाभोन्माद, कामोन्माद और भोगोन्मादी मानसिकता को कार्यशील, प्रगतिशील, विकासशील और अत्याधुनिक मानना और मनाना अथ से इति तक भ्रम है**।

जबकि जीवन्त शरीर में ही इन्द्रिय सन्निकर्ष होना देखा गया है। जीवन ही शरीर को जीवन्त बनाए रखता है। सत्य भासने के लिये शरीर और जीवन का सह-अस्तित्व आवश्यक है। इसी क्रम में जीवन, जागृति और जागृति पूर्णता को प्रमाणित करता है। जागृति को प्रमाणित करने की इच्छा प्रत्येक मानव में समाहित रहता ही है। इसे सार्थक और लोकव्यापीकरण करने के लिये परंपरा का जागृत होना अनिवार्य है। मानव धर्म अर्थात् सर्वतोमुखी समाधान पर आधारित व्यवस्था में जीने देकर जीना है। इसकी सार्वभौमता सर्व स्वीकृत है।

समुदाय परंपराओं में धर्म के नाम पर **अनेक मान्यताओं को द्वेष सहित समुदाय के जनमानस को मनाना और स्वयं माने रहना, ऐसे मानने के लिये सम्मति देना, ये सब मूलत: अथ से इति तक भ्रम और गलतियाँ है।** अ.व. (108-115)

अव्यवस्था मानव जाति की पीड़ा का ही स्वरूप है, क्योंकि और व्यवस्था की समझ बराबर पीड़ा है। मानव जब कभी भी पीड़ित होता है, उसका अध्ययन करने पर पता लगता है कि अव्यवस्था की समझवश ही यह पीड़ित हुआ रहता है। व्यवस्था की अपेक्षा में ही व्यवस्था की समझ और पीड़ा प्रक्रिया बद्ध रहता है। इसका व्यवहारिक रूप-एक आदमी को ज्वर आने की स्थिति अव्यवस्था है, हाथ पैर टूटने की स्थिति अव्यवस्था है। वाद विवाद होने की स्थिति अव्यवस्था है फलस्वरुप पीड़ा है।

वाद विवाद मानव में तभी प्रभावशील होता है जब दोनों पक्ष गलत हो अथवा एक पक्ष अवश्य गलत हो। इस स्थिति में वाद विवाद हो पाता है। दोनों पक्ष यदि सही हो, उस स्थिति में वाद विवाद होने की घटना नहीं हो पाती।

इसके स्थान पर परस्पर विश्वास, समाधान के प्रति एक जुट निष्ठा का होना पाया जाता है। कुछ आयामों में इसके प्रमाण स्थापित हो चुके हैं। इस क्रम में यह भी पता लगता है कि वाद-विवाद के मूल में कम से कम एक पक्ष में गलती रहती ही है। गलती का मूल रूप भ्रम ही है। भ्रम का कार्यरूप अधिमूल्यन, अवमूल्यन और किसी एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु समझना ही (निर्मूलयन) है। इसके उदाहरण स्वरूप सांप और रस्सी को देखा जा सकता है। सांप को रस्सी समझने या रस्सी को सांप समझने से इससे होने वाली परेशानी स्वयं सिद्ध है। लोहा को सोना समझना और सोने को लोहा समझना यह अधिकमूल्यन और अवमूल्यन की परेशानी है। इस प्रकार इन तीनों स्थितियों में मानव गलती करता ही है।

स्वयं परेशान रहता है, फल स्वरुप वातावरण एवं नैसर्गिकता से परेशानी पैदा करता है। क्योंकि इसके पास जो होता है उसको बंटन करता है।

इस प्रकार देखने पर यह भी तथ्य समझ में आता है कि मानव को दो ही स्थिति में देखा जा सकता है-वह है भ्रम और निर्भ्रम (जागृत) स्थिति। भ्रम मानव को अव्यवस्था के रूप में प्रकाशित हो पाता है। विकल्प के स्वरूप में अर्थात अव्यवस्था के विकल्प में, व्यवस्था ही है। अस्तित्व मूलक मानव केंद्रित चिंतन व्यवस्था-सार्वभौम व्यवस्था, अस्तित्व सहज व्यवस्था, सह अस्तित्व सहज व्यवस्था, रासायनिक भौतिक रचना सहज व्यवस्था, विकास सहज व्यवस्था जीवन सहज व्यवस्था और जीवन जागृत सहज व्यवस्था को स्पष्ट करता है। इसको अध्ययनगम्य करना ही सह-अस्तित्ववाद का उदेश्य है।

"सह- अस्तित्ववाद" में "समाधानात्मक भौतिकवाद" एक प्रबंध है। "व्यवहरात्मक जनवाद" दूसरा है, "अनुभवात्मक अध्यात्मवाद" तीसरा है।

कुल मिलाकर व्यवस्था सूत्रों का सम्मिलित नाम है - समाधान। इसी नाम का वैभव रूप मानव में भी प्रमाणित होता है। प्रत्येक मानव को समझदारी के साथ जीने का हक बनता है। परंतु साथ- साथ व्यवस्था को समझने की जिम्मेदारी भी है। समझदारी का स्त्रोत परंपरा ही है। इस क्रम में प्रचलित लाभोन्मादी, भोगोन्मादी, कामोन्मादी (लाभ, भोग, नाम का पागलपन) अध्ययन प्रबंधों और उपक्रमों के स्थान पर विकल्प के रूप में "कामोन्मादी मनोविज्ञान" का विकल्प "मानव संचेतनवादी मनोविज्ञान" के रूप में भोगोन्मादी समाज चेतना अथवा "भोगोन्मादी समाज शास्त्र" के स्थान पर "व्यवहारवादी समाजशास्त्र" विकल्प।

इसी प्रकार "लाभोन्मादी अर्थशास्त्र" के स्थान पर "व्यवहारवादी समाजशास्त्र" विकल्प के रूप में प्रतिष्ठित होना स्वाभाविक रहा है, क्योंकि उन्मादों से होने वाली पीड़ाओं से अथवा उन्मादों से होने वाली अव्यवस्थाओं की पीड़ा से अधिकांश मानव पीड़ित हो चुके हैं।

भ्रम से बेहोशी की ओर जो घनीभूत होंगे वे ही इस पीड़ा नहीं समझ पाएँगे, ऐसे लोग भी कम ही होंगे। अस्तु, इन (विकल्पात्मक) प्रबंधों को शिक्षा में अपना लेने से शिक्षा का मानवीयकरण संभव हो सकेगा। ऐसे आवर्तनशील अर्थचिंतन, व्यवहारवादी समाजशास्त्र और मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान सहज ऐश्वर्य से संपन्न होने के लिए द्वंदात्मक भौतिकवाद के स्थान पर समाधानात्मक भौतिकवाद, द्वंदात्मक जनवाद के स्थान पर व्यवहारात्मक जनवाद और रहस्यात्मक अध्यात्मवाद के स्थान पर अनुभवात्मक अध्यात्मवाद की आवश्यकता अनिवार्यता है ही, जो पहले स्पष्ट की जा चुकी है। ये सब उपलब्ध हो गए हैं।

इन छः प्रबंधों को पाने के लिए अस्तित्व दर्शन, जीवन ज्ञान और मान्यता पूर्ण आचरण रूपी समझदारी के प्रतिपादन सहज रूप में, मध्यस्थ दर्शन प्रतिपादित हुआ है। जो स्वयं "मानव व्यवहार दर्शन", "मानव कर्म दर्शन", "मानव अभ्यास दर्शन" और "मानव अनुभव दर्शन" की अभिव्यक्ति है।

इस दर्शन के आधार पर वाद और शास्त्र निर्मित हुआ। इसे मानव परंपरा में अर्पित करने का संकल्प स्वयं प्रेरित है। इस अनुसंधान के मूल में अव्यवस्था की समझ में जो पीड़ाएँ थी, उन्हें दूर करना ही प्रधान कारण रहा है। अ. व. (146 – 156)

सार्वभौमता का पहचान

सम्पूर्ण मानव परम्परा सदैव से तर्क का प्रयोग करता ही आया है। क्योंकि कल्पनाशीलता कर्म स्वतंत्रतावश तर्क का उद्घाटन अपने आप में उद्गमित होता रहा। सम्पूर्ण उद्घाटन में मानव में समानता का आधार भी बना हुआ है। जैसे संख्या का पहचान सभी देश भाषा में एक ही सा है। एक "दिन" पहचानने का स्वर एक ही है। मानव जाति को पहचानने के स्थान पर जाति का नाम कुछ का कुछ दे रखा है। मानव धर्म को पहचानने के स्थान पर कुछ न कुछ नाम दे रखा है। मानव को ईश्वर को व्यापक रूप में पहचानना था उसके स्थान पर अपने अपने ढंग से कुछ न कुछ मान रखा है। मानव कुल सार्वभौम व्यवस्था को पहचानना था, व्यवस्था के नाम पर कुछ न कुछ मनमानी करता है। मानव कुल सत्य को पहचानने की आवश्यकता पर सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व को पहचानना था उसके स्थान पर कुछ न कुछ मान रखा है।

इस प्रकार बहुत सारे चीज सार्वभौम नहीं हो पाया, कुछ चीज सार्वभौम हुआ भी अर्थात सर्वमानव स्वीकृति एक सा है, जैसे धरती, परमाणु की स्वीकृति, पदार्थावस्था मृत, मणि, पाषाण, की स्वीकृति, अन्य वनस्पति की स्वीकृति, जीव संसार में विभिन्न जीवो की स्वीकृति, सर्वमानव में एक सा होना पाया जाता है। इसी प्रकार जल, वायु की स्वीकृति एक सा होना पाया जाता है।

इससे यह स्पष्ट होता है, जिन मुद्दो पर सार्वभौमता नहीं हुई है, उन सभी मुद्दो पर पुनः विचार, परामर्श, विश्लेषण, विवेचना सहित सार्वभौम स्वीकृति के रूप में मानव स्वयं पा लेना अर्थात मानव कुल पा लेना सर्वशुभ के लिए आगे की कड़ी है। अभी तक जितनी भी स्वीकृतियाँ भ्रम के आधार पर अथवा जागृति के आधार पर बन चुकी है, इनके मूल में शुभ की अपेक्षा, घोषणा, प्रयोग, प्रयास, अभ्यास व्यवहार कार्य किया जाना स्पष्ट है।

यह सब प्रयोगो का नजीर रहते जिन-जिन मुद्दो में सार्वभौम स्वीकृति नहीं हो पाई है उसे स्वीकृति की एकरूपता में घटित करा लेने से ही समुदायिक फर-फंदे का उन्मूलन हो पायेगा।

फरफंद का तात्पर्य भ्रमित मान्यता के आधार पर द्रोह, विद्रोह, शोषण और युद्ध तक पहुंचने का रास्ता से है। इसलिए सार्वभौम के ध्रुवो पर और मानव कुल की अखंडता के ध्रुव पर, सम्पूर्ण अध्ययन पर, सार्वभौम स्वीकृति के रूप में, सार्वभौम स्वीकृति का तात्पर्य सर्वमानव स्वीकृति अथवा सम्पूर्ण देश, काल में होने वाली स्वीकृति से है, इसमें एकरूपता की आवश्यकता बनी रहती है। इस क्रम में मानव अपनी महिमा मंडित मर्यादा को पहचानना अवश्यंभावी है। ज.व. (189-191)

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक तक सुख-सुविधा में प्रमाणित स्वरूप और मानसिकता सुस्पष्ट रूप में कहीं भी, किसी भी व्यक्ति में प्रमाणित नहीं हो पाती। मूल मुद्दा यही है कि सुविधाएं और संग्रह इंद्रियां सन्निकर्षात्मक, अतिभोग, बहुभोग भोग इसे वर्तमान तक अर्थात् बीसवीं शताब्दी के दसवें दशक तक अभिप्राय माना गया। इसके निष्कर्ष को इस प्रकार देखा गया कि सुविधा-संग्रह-भोग-अतिभोग के क्रम में सुख भासते हुए इसकी निरंतरता नहीं होती - यह सर्वविदित है ही। जबकि हम मानव सदा सदा से सुखा अपेक्षा से ही परंपरा क्रम में व्यक्त होते आ रहे हैं। यह घटना अर्थात् संग्रह-सुविधामूलक सुखपेक्षाएँ सदा सदा ही हर व्यक्ति में क्षणिकता में भंगुरता को स्थापित कराते ही आया है।

ऐसी क्षणिकता (सुख भासने वाली क्षणिकता) को पाने के लिए दिवा रात्रि संग्रह-सुविधा का परिकल्पना-सम्पादन कार्यों में लगा रहता हुआ अथवा लगे रहने के लिए इच्छा करने वाले स्थितियों में अधिकांश लोगों को दिखा गया।

इसका तात्पर्य यही हुआ अभी तक हम एक **'सार्वभौम मानव'** जो समाधान, समृद्धि, अभय और सह-अस्तित्व को प्रमाणित करता है, उनको पाकर उनके जैसा हर व्यक्ति मानवाधिकार सम्पन्न स्वरूप से ख्यात होना संभव नहीं हो पाया। इसकी आवश्यकता को प्रकारांतर से परिकल्पना में लाते ही रहे और इस मान्यता से शुभेच्छा सम्पन्न संस्थाएँ काम करते रहे हैं कि यथा स्थितियाँ सुख-चैन का आधार है। जीवन ही सुखी होता है। समझदारी का धारक वाहक जीवन ही है। समझदारी से ही समाधान है। समाधान सार्वभौम है। अ. श (176 -177)

व्यवस्था में ही हर मानव वर्तमान में विश्वास करना और होना पाया जाता है। और किसी उपाय से अभी तक प्रमाणित नहीं हुआ कि मानव को वर्तमान में विश्वास हो सके, कर सके। जीवन तृप्ति सहित मानव परंपरा तृप्ति, मानव परंपरा में, से, के लिये मूल उद्देश्य है। इसी सार्वभौम आशय को सार्थक बनाने के क्रम में हर व्यक्ति में स्वायत्तता, हर परिवार में समाधान, समृद्धि और सम्पूर्ण मानव में समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व यही अपेक्षित भोग है। भोग के मूल में सुखापेक्षा का होना सर्वमानव में दृष्टव्य है। यह भी देखा गया है कि समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व में जीवनापेक्षा सहज सुख, शांति, संतोष, आनंद वर्तमानित रहता है। अ.व. (244-248)

आज की स्थिति में सर्वाधिक संग्रह, भोग की मानसिकता अथवा लोक मानसिकता को देखते हुए व्यवस्था को पहचानना एक अनिवार्य स्थिति निर्मित हो चुकी है। इसके पक्ष में अर्थात् सार्वभौम व्यवस्था को पहचानने के पक्ष में सर्वमानव में सुखापेक्षा (सुख की अपेक्षा) एक मात्र सूत्र हैं। सुख सहज सूत्र व्याख्या ही भरोसा करने और प्रयोग कर, अभ्यास कर, प्रमाणित कर, लोक व्यापीकरण करने योग्य कार्यक्रम दिखाई पड़ता है। इसका मूल ध्रुव जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन तथा मानवीयतापूर्ण आचरण का समीकरण ही हैं।

इसके लिए अस्तित्व सहज सूत्र, सह-अस्तित्व सहज व्याख्या, अध्ययन सुलभ हो चुका है। अस्तु, मानवीयतापूर्ण विधि और व्यवस्था को पहचानना सुलभ हुआ। इसको व्यवहार रूप देना ही इसका लोक व्यापीकरण ही हमारी निष्ठा और कर्तव्य हैं।

इसी विधि से पाई जाने वाली सुखाकांक्षा, व्यवहार और कार्यक्रम सहज सुलभ होने की संभावना आ चुकी हैं। इसी संभावना के आधार पर प्रत्येक मानव मानवत्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी निर्वाह करने के कार्यक्रम को परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था क्रम में पहचान कर निर्वाह कर सकते हैं। इससे ही प्रत्येक मानव सुख, समाधान, समृद्धि, अभय, सह-अस्तित्व को अनुभव करेगा। जिससे ही भूमि स्वर्ग होगा, मनुष्य देवता होंगे, धर्म (समाधान) सफल होगा, नित्य शुभ होगा | भ. व. (355 -357)

अध्याय 2 - आगे अध्ययन हेतु संकेत

अध्ययन क्यों?

धरती बीमार हो गई है, प्रदूषण छा गया है, अपना पराया का दीवाल बढ़ गया है.... मानव को यदि इस धरती पर रहना है, तो समझना ही पड़ेगा, जागृत होना ही पड़ेगा। सुखी होने के लिए समाधानित होने के लिए व्यवस्था में जीने के लिए धरती चारों अवस्था संतुलित रहने के लिए अध्ययन करना ही होगा, न्याय दह्रम सत्य को समझना ही होगा, जागृत होना ही होगा, अनुभव करना ही होगा, प्रमाणित करना ही होगा - दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है। (संवाद)

अध्ययन क्या है ?

परिभाषा

1. अधिष्ठान के साक्षी में स्मरण पूर्वक किया गया, क्रिया प्रक्रिया एवं प्रयास।
2. श्रवण - मनन - साक्षात्कार की संयुक्त प्रक्रिया ही अध्ययन है।
3. हर शब्द का अर्थ है। उस अर्थ के स्वरूप में अस्तित्व में वस्तु (वास्तविकता) को पहचानना, समझना, वस्तु के साथ हमारा कल्पनाशीलता 'तदाकार' होना ।

- (परिभाषा संहिता, अभ्यास दर्शन)

व्याख्या

अध्ययन के चरण इस प्रकार हैं:-

परस्परता में विश्वास (अध्ययन कराने वाले के प्रति)

1. शब्द के अर्थ को सुनना
2. अर्थ को समझने के लिए मन को लगाना
3. अर्थ रूपी वस्तु को समझना

समाधान = जागृति = मानव चेतना

"मैं समझ सकता हूं और जीकर प्रमाणित हो सकता हूं।" जब तक यह स्वयं में भरोसा नहीं बनता, एक शब्द तक नहीं पहुंच पाएंगे। मानव ही एकमात्र वस्तु है, जो समझ सकता है, प्रमाणित कर सकता है। (संवाद भाग -2) पृ 229-230

इसी को समझाया:

- **श्रवण** – लिखा हुआ को तर्क संगत विधि से समझना, शब्द का अर्थ स्पष्ट होना | 'अनेक भाषा को एक ही अर्थ में एकत्रित करना' | श्रवण के लिए शास्त्राभ्यास -इसमें भास् होता, आभास होता है |
- **मनन** – श्रवण से प्राप्त अर्थों में जीना, उनका आभास पूरा होना, निष्कर्ष स्थिर होना | मनन प्रक्रिया में न्याय धर्म सत्य का आभास पूरा होता है | इसमें व्यवहाराभ्यास, कर्माभ्यास, साक्षात्कार करने के लिए अभ्यास |
- **साक्षात्कार** – शब्द से इंगित वस्तु को अस्तित्व में "वस्तु" रूप में पहचानना | साक्षात्कार होने से प्रतीति होता है | जो साक्षात्कार हुआ, वो साथ साथ बुद्धि में स्वीकार होते जाता है | ऐसा बोध होने से 'अध्ययन' हुआ, नहीं तो नहीं हुआ | (संवाद – २००७, २०१२)

अध्ययन वस्तु

- अस्तित्व ही अध्ययन के लिए संपूर्ण वस्तु है।
- कुल मिलाकर समझने के लिए तीन मुद्दे हैं:-
    - सह अस्तित्व को समझना = "अस्तित्व दर्शन ज्ञान"
    - सह अस्तित्व में स्वयं को समझना = "जीवन ज्ञान"
    - सह अस्तित्व में जीने को समझना = "मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान" (संवाद 2008)

क्या क्यों और कैसे का उत्तर (समझ)

- इस विधि से अस्तित्व क्यों है? कैसे हैं ? इसे समझना।
- मानव क्यों है ? कैसा है ? इसे समझना।
- मानव का मानव के साथ संबंध क्यों है ? कैसा है ? इसे समझना।
- नैसर्गिक संबंध (पदार्थ प्राण जीव) क्यों है ? कैसा है ? यह समझने के लिए वस्तु है।

अध्ययन सामग्री (मूल ग्रंथ)

- अध्ययन के लिए मूल सामग्री 'मध्यस्थ दर्शन' – "सहअस्तित्ववाद" वांग्मय के रूप में प्रस्तुत है यह चार दर्शन, तीन वाद, तीन शास्त्र, तथा संविधान के रूप में है। (प्रणेता एवं लेखक - ए नागराज, अमरकंटक, म्. प्र.)

अध्ययन हेतु सहयोग, शिविर

शिक्षा विधि

- शिक्षा विधि से प्रवेश हेतु 'चेतना विकास मूल्य शिक्षा' एवं 'शिक्षा का मानवीयकरण' कार्यक्रम है। यह विश्वविद्यालय पर्यंत है।

युवा तथा प्रौढ़ शिक्षा, "लोक शिक्षा"

I. **'जीवन विद्या शिविर', परिचय शिविर –** यह दो स्तर का है:
   1. **प्राथमिक परिचय शिविर (प्रवेश हेतु)**
      - उद्देश्य - सामान्य सूचना अध्ययन की आवश्यकता स्पष्ट होना
   2. **अध्ययन बिंदु परिचय शिविर (अध्ययन से जुड़ने हेतु)**
      - उद्देश्य - मध्य दर्शन के मुख्य 44 बिंदु से अवगत होना। अध्ययन की आवश्यकता स्पष्ट होना।

II. **अध्ययन शिविर** - अध्ययन में प्रवेश, विधिवत अध्ययन
   1. **अंशकालीन** - 1/2/3 वर्षीय शिविर जिसमें प्रत्येक कुछ माह में 7-10 दिन सत्र रहता है, जैसे 3 माह में 7 दिन।
   2. **पूर्णकालीन** – 6 माह / 2/ 3 वर्ष पूर्ण समय, आवासीय।

III. **गोष्ठी** - अध्ययन के प्रति निष्कर्षों को जांचने हेतु, चर्चा हेतु, अवधारणा हेतु।

अधिक जानकारी

विशुद्ध दर्शन साईट : www.madhyasth.org

English Information Portal, Shivir Info, Resources – www.madhyasth-darshan.info